श्रीमद् देवचंद्रजी कृत—

चतुर्विंशति जिन स्तवन

संपादक :

उमरावचंद जरगड

प्रकाशक :
श्री जिनदत्त सूरि सेवा संघ,
बम्बई, २

प्रथम संस्करण : २०००

श्री जिनदत्त सूरि जयन्ती : सं० २०१६

मूल्य : २) रुपया

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स,
घीवालों का रास्ता, जयपुर

अनुक्रमणिका

श्रीमद् देवचन्द्रजी की
पवित्र सेवा में

मेरी श्रद्धानुसार मेरे श्रम व भावना को आप भली भांति जानते हैं। मैंने आपके एक एक शब्द का अनेकानेक वक्त विचार करके यह अनुवाद किया फिर भी मेरी अल्पज्ञतावश अनेक भूलों की संभावना है। उन भूलों की क्षमायाचना करता हुआ यह आपकी वस्तु आपको ही समर्पण करता हूँ।

चरणोपासक

उमरावचंद जरगड़

अनुवादक का निवेदन

जैन तत्वज्ञान के रसिक अनेक जन श्री देवचंद्र जी की चौवीसी को कठस्थ करके अर्थ का चिन्तन किया करते हैं। इस चौवीसी में तत्वज्ञान मय भक्ति पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। जैन दर्शन के अनुसार जीव के अच्छे बुरे कर्म ही उसके सुख दुख के मूल कारण हैं। प्रभु न किसी से प्रेम करते हैं न घृणा करते हैं क्योंकि वे तो पक्षपात रहित वीतराग हैं। अत: किसी को दंड देना तथा किसी को पुरस्कार देना उनके लिये कैसे संभव है? ऐसी अवस्था में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि फिर उनकी भक्ति, पूजा, अर्चना तथा गुण गान करने से क्या लाभ?

इसका ब्योरेवार सुन्दर व विशद उत्तर जैसा इस चौवीसी में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र मेरे देखने में नही आया।

मैंने छ: वर्ष पहले इस चौवीसी को अनेक बार पढा पर हृदयंगम न कर सका क्योंकि इन पदों का बालावबोध पुरानी भाषा में अत्यन्त विस्तार के साथ टब्बे के ढंग पर लिखा हुआ है। मेरी इच्छा यह थी कि पद पढ कर तुरंत अर्थ समझ लिया जावे इसलिये अर्थोपयोगी व्याख्या पर निशान लगा लिये किन्तु इससे इच्छित परिणाम नहीं आया। तब मैंने संक्षेप में अर्थोपयोगी व्याख्या व अन्य आवश्यक ज्ञातव्य बातों का हिन्दी में अनुवाद किया। इसमें अनेक विस्तृत व्याख्याओं को संक्षेप किया व संस्कृत व प्राकृत के प्रमाण सर्वथा छोड़ दिये। यह करके मैंने अर्थ के साथ जब मिलान करके देखा तो अनेक स्थल पर यह जानना कठिन मालूम पडा कि अमुक पद का अमुक अर्थ है। अत: फिर से पद के अर्थ को दृष्टि में रखते हुये अपने अनुवाद व श्रीमद् के बालावबोध के आधार से अर्थ लिखना प्रारंभ किया, इसमें अनेक स्थल पर बहुत सी आवश्यक सामग्री छूट जाती थी इसलिये जहां कहीं यह सामग्री रह गई थी उसको विशेष में ले लिया। इससे अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है तथा अन्य अनेक ज्ञातव्य बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। इस तरह करने से मुझे श्रीमद् देवचन्द्रजी के स्तवनों का अर्थ समझने में बहुत सुविधा हुई। मेरे मित्र श्री अगरचन्दजी नाहटा को जब यह दिखाया तो उन्होंने इसे प्रकाशित करने की सलाह दी किन्तु मुझे संकोच ही रहा क्योंकि एक तो मेरे पास कोई डिग्री नहीं, न मेरे पास त्याग व तपस्या का बल, न ध्यान व धैर्य का, फिर किस बल पर प्रकाशन करूं?

सन् ५५ में जब श्री बुद्धिमुनि महाराज बम्बई पधारे, तब मैं वहां ही था मैंने यह अनुवाद उन्हें दिखाया। उन्होंने इसे आद्योपान्त बहुत ध्यान से पढ़ा तथा मेरी संक्षेप करने की रुचि के कारण जो बातें रह गई थी उस ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया और मैंने उनके कथनानुसार थोड़ी वृद्धि करली। फिर भी मैं यह चाहता था कि अन्य कोई अनुभवी पुरुष इसे देख लेवे, इसके लिये प्रयत्न भी किया पर भाग्य में यह नहीं था। इस तरह यह अनुवाद ४ वर्ष तक योंहीं पड़ा रहा।

यहां इतना और कह देना आवश्यक समझता हूं कि श्री नाहटाजी ने मुझे आज से १८ वर्ष पहले श्री आनन्दघनजी के स्तवनों का अनुवाद करने के लिये कहा था, उन्होंने श्री आनन्दघनजी के स्तवनों पर श्री ज्ञानसारजी का एक अनुपम प्राचीन हस्तलिखित टब्बा भी मुझे भेजा था जिसकी मैंने नकल कराली थी। उनका जब भी मेरे पास पत्र आता था उसमें इन स्तवनों के अनुवाद का स्मरण कराना वे कभी नहीं भूलते थे। योगीराज के स्तवनों का अर्थ लिखने की उत्कंठाने मुझे अनेकानेक जैन, अजैन दार्शनिक साहित्य, संत साहित्य व गांधी साहित्य देखने की प्रेरणा की। इस ही लगन के कारण मैंने श्री देवचंद्रजी की चौवीसी का अनुवाद किया और उसके पीछे श्री यशोविजयजी उपाध्याय की आठ दृष्टि की सज्झाय तथा बाबू फतेहमल जी की प्रेरणा से श्री देवचन्द्रजी की स्नात्र पूजा का अनुवाद भी लिख रखा।

मैंने आठ दृष्टि की सज्झाय का अनुवाद एक बार जैन संस्कृत कालेज के अध्यक्ष पूज्य पंडित श्री चैनसुखदासजी को पढ़ कर सुनाया था। उन्हें यह बहुत पसंद आया, फिर श्री देवचन्द्र की चौवीसी का अनुवाद भी सुनाया, इसे भी उन्होंने बहुत पसंद किया। उन्होंने मुझे इन ग्रन्थों को शीघ्र प्रकाशित करने के लिये उत्साहित किया। मैंने अपनी सब कठिनाइयां उनके सम्मुख रखी। उन्होंने ध्यानपूर्वक सुन कर कहा कि 'यों लिख लिख कर रखने मात्र से अधिक प्रगति नहीं होगी, प्रकाशन से ही अपनी त्रुटियां ध्यान में आवेगी और शैली सुधरेगी'। उनके उत्साह वर्धक शब्दों से मुझे प्रकाशन करने का साहस हुआ अतः मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं। श्री देवचन्द्रजी की चौवीसी का अनुवाद उनके बालवबोध के आधार से है इसलिये सब से पहले इसे ही प्रकाशित करना उचित समझा।

इस अनुवाद में मैंने श्री देवचन्द्रजी के शब्दों को हिन्दी बाना पहना दिया है। एक सज्जन ने मुझे भावानुवाद करने का भी सुझाव दिया था। जब मैंने भावानुवाद की दृष्टि से इस अनुवाद को पढ़ा तो इसे भावानुवाद के निकट ही पाया। इससे अधिक स्पष्टीकरण वही कर सकता है जिसका अनुभव ज्ञान व आगमिक ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा हो। मैंने बालावबोध को अनेक बार पढ़ पढ़ कर यह अनुवाद किया है पर महापुरुषों की वाणी इतनी अर्थ गंभीर व आशय गंभीर होती है कि उसका

दूसरी भाषा में लिखना व संक्षेप करना अत्यन्त कठिन होता है। 'सूत्र के एक अक्षर व मात्रा का उलट फेर करने वाला अनन्त संसारी होता है'। इस महा वाक्य का रहस्य यह अनुवाद करते समय मेरी समझ में आया। श्री देवचन्द्रजी की एक यही ऐसी रचना है जिस पर उनका पूरा बालावबोध है अतः शब्दानुवाद ही निरापद व श्रेष्ठ मार्ग समझा। भावानुवाद के लिये तो अभी श्रीमद् की अन्य अनेक रचनाएं हैं जिनका हिन्दी में प्रकाशन कर जनता की सेवा की जा सकती है।

मैंने श्रीमद् का आशय लाने में अपनी शक्ति भर प्रयत्न किया है भाषा व व्याकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि यह कार्य विशेषज्ञों के जिम्मे था किन्तु खेद है कि उनका सहयोग प्राप्त न हो सका। अतः गुणग्राही पाठक मेरी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर श्रीमद् की अमृत वाणी का पान करेंगे ऐसी मेरी विनम्र प्रार्थना है। इस अनुवाद में जो कुछ अच्छाई है वह सब उस महापुरुष की है और जो कुछ त्रुटि है वह सब मेरी है।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि जब इन स्तवनों का बालावबोध वर्तमान है तो फिर अनुवाद की क्या आवश्यकता थी ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि समय समय पर लोक भाषा में प्राचीन साहित्य का प्रकाशन होता आया है इसलिये अपने समझने के लिए लिखी गई इस वस्तु का प्रकाशन किया गया है। यदि इसे पढ़ कर उस बालावबोध को पढ़ने की इच्छा जागृत हो तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा। जिन लोगों के जिम्मे भाषा व प्रूफ संशोधन का कार्य छोड़ा गया था उनका सहयोग न मिलने से सारा काम मुझे ही करना पड़ा और मेरा यह पहला ही कार्य था इसलिये मुद्रण में अनेक गलतियां रह गई हैं, जिसके लिये शुद्धि पत्र दे दिया गया है।

यदि अनुवाद पढ़ते समय कोई शंका उपस्थित हो तो बालावबोध देखना चाहिये। मैंने जो वस्तु जहां से ली है उसका उल्लेख वहां कर दिया है किन्तु वह वस्तु श्रीमद् के ही अन्य ग्रन्थ की हो तो वह रह भी गई है। जैसे शीतल जिन स्तवन की अन्तिम गाथा का अन्तिम भाग आगमसार के अन्तर्गत प्रतिमा पूजा सिद्धि से लिया गया है उसका उल्लेख वहां नहीं हुआ है। उस ही भांति पृष्ठ ३१ में चन्द्रप्रभ जिन स्तवन की गाथा का अन्तिम भाग भी लिया गया है। पृष्ठ २६ में सुपार्श्व जिन स्तवन की सातवी गाथा का अन्तिम भाग उस ही स्तवन की पूर्वपीठिका से लिया गया है। कहीं कहीं इनवरटेड कामा व ब्रेकट देना रह गया है। जैसे प्रथम पृष्ठ में "काल से मैं विविध स्थायी पर्यायों का धारक और प्रभु अनन्तकाल स्थायी सिद्धत्व पर्याय के धारक है" यह व्याख्या श्रीमद् की नहीं, पण्डित चैनसुखदासजी की है। इसलिये (" ") यह चिन्ह होना चाहिये था। उस ही भांति पृष्ठ ३४ में ये शब्द ब्रेकट में होने चाहिये थे। (यदि अनादि है तो अनादि का छूटना असंभव होकर

मुक्ति का अभाव हो जावेगा) तथा पृष्ठ ६० की ६-१० पंक्ति में (अद्वैत वेदान्त के के समान) ये शब्द ब्रेकट में होने चाहिये थे क्योंकि यह शब्द मेरे हैं । प्रथम प्रयास होने के कारण बहुत सी त्रुटियों की संभावना है जिसे उदार पाठक निभालेंगे । मैं तो केवल यही कह सकता हूं कि अपने प्रयास में कोई बात उठा नहीं रखी ।

श्री जिनदत्त सूरि सेवा संघ व उसके मंत्री श्री प्रतापमल जी सेठिया ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन उस संस्था की ओर से कराया है इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ । पूज्य साध्वी श्री विचक्षणश्रीजी ने दो फर्मे छपजाने पर अन्य एक हजार प्रति छपवाने के लिये कहा इस लिये पहिले दो फर्मे फिर से छपवाने पड़े । मैंने प्रत्येक स्तवन को पृष्ठ के प्रारंभ से ही शुरु किया है इस लिये इन दो फर्मों के अन्त में कुछ भाग खाली रह गया था जिसे काम में ले लेना मैंने उचित समझा इसलिये तीसरे व सातवें पृष्ठ में प्रथम स्तवन की पूर्व पीठिका में जो वस्तु थी वह देदी । सातवें पृष्ठ में अनुष्ठानों के विषय में पूर्व-पीठिका के अतिरिक्त भी कुछ लिखा गया है जो मैंने पं० श्री सुखलाल जी की योग विंशिका के अनुवाद में व डाक्टर भगवानदास जी के योग दृष्टि समुच्चय के अनुवाद में देखा था किन्तु श्रीमद् ने षोडशक व उसकी टीका का वर्णन किया था इसलिये षोडशक का नाम उल्लेख कर दिया है । वहां भी एक बात रह गई है । मूल पाठ इस भांति था 'आचार्य प्रवर श्री हरिभद्र सूरि ने षोडशक में, व उसकी टीका में (श्री यशोविजय जी ने) इन अनुष्ठानों के विषय में काफी प्रकाश डाला है' इसमें ब्रकटवाला भाग रह गया है

प्रथम के दो फर्मे भी सब पुस्तकों में समान ही हो इसलिये प्रथम वाले फर्मे की हजार प्रतियां छपाकर श्री सेठिया जी के उत्तर आने तक इस फर्मे को योंही पड़ा रखा । समय पर उत्तर न आने पर भी मैंने एक हजार प्रति उस फर्मे की छपा ली किन्तु दुर्दैव से मशीन की खराबी से उस दिन कुछ प्रतियों में गड़बड़ हो गयी ।

श्री विचक्षणश्रीजी को कुछ फर्मे तथा श्री सज्जनश्रीजी को सब फर्मे प्रूफ संशोधन के समय दिखा लिये हैं । उन्होंने परिश्रम पूर्वक इन्हें देखा तथा संशोधन भी किया एतदर्थ उनका कृतज्ञ हूँ ।

जीवन चरित्र पृ. १३ का फुटनोट नं. २ गलत छपा है । यह इस प्रकार होना चाहिये था "द्रव्य प्रकाश व्रजभाषा में है" ।

स्थानाभाव से इतना ही कह कर विराम लेता हूँ । प्रमाद दोष से दृष्टि दोष से एवं मुद्रण दोष से जो भी त्रुटियां रही हों उसके लिये क्षमा मांगते हुए अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ । श्रीमद् के इन स्तवनों से भव्य प्राणी अधिकाधिक लाभ उठायें यही कामना है ।

आषाढ़ शुक्ल २
सं. २०१६

उमरावचंद जरगड़
जयपुर

प्राक्कथन

जैनों के धार्मिक वाङ्मय में स्तवन साहित्य का उल्लेखनीय स्थान है। स्तवन, बंदना, पूजा आदि नाना रूपों में यह विकसित हुआ है। भावपूजा, द्रव्यपूजा आदि सभी इसी विकास के परिणाम हैं। यह साहित्य मुख्यतया पंचपरमेष्ठियों के गुणकीर्तन से संबद्ध है। आगे जाकर चतुर्णिकाय देव एवं कल्पित देव देवियों के स्तवन स्तुतियां भी इस साहित्य में आगई हैं। इस प्रकार सैकड़ों ही नही हजारों की संख्या में स्तोत्र स्तवन आदि के रूप में इस साहित्य की रचनाएँ मिलती हैं।

इस साहित्य का मूलरूप हमें संस्कृत भाषा के वाङ्मय में मिलता है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें भी इससे अछूती नहीं रही हैं। गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि प्रांतीय भाषाओं के स्तवन साहित्य पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के इस साहित्य का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

'णमो अरिहंताणं' इत्यादि अपराजित मंत्र और 'चत्तारि मंगलं' इत्यादि मंगल पाठ भी इसी साहित्य की मौलिक और सर्वोत्कृष्ट रचना है। एक दृष्टि से तो मंत्र शास्त्र भी इसी साहित्य की एक शाखा ही है। मंत्रों में जो नमः स्वाहा स्वधा, वषट् आदि शब्द आते हैं उनको इस साहित्य के शब्दों से अलग नहीं किया जा सकता। भक्तामर स्तोत्र और कल्याण मंदिर स्तवन के प्रत्येक पद्य आज मंत्र के रूप में ही माने जाते हैं। इतना ही नहीं उन्हें खास प्रकार के अनुष्ठानों से मंत्रों की तरह सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार ये स्तोत्र मंत्र भी हैं और स्तवन भी।

जैनधर्म किसी जगत कर्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। वह सर्वज्ञ मानता है, परमात्मा मानता हैं और इन्हीं को वह ईश्वर भी कहता है; किन्तु ऐसे ईश्वर के लिये उसके दर्शन में कोई स्थान नहीं है जो इस जगत का कर्ता धर्ता और हर्ता हो। फिर भी जैनों के स्तवन–स्तुतियों मे इस प्रकार के शब्द प्रयोग बहुतायत से मिलते हैं जिन्हें पढकर ऐसा भान होने लगता है जैसे यह दर्शन कर्तावादी हो; किन्तु गहराई में जाकर देखने से इस भान का निरास स्वतः ही होजाता है।

जैन–परमेष्ठियों में सर्वोपरि स्थान तीर्थंकरों का है। उनकी स्तुतियों में उनके लिए पतितपावन, अधम उद्धारक, अशरण–शरण आदि कर्तृ परक शब्दों का बहुलता

से प्रयोग मिलता है किन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं है कि भगवान् अपने प्रयत्नों से पतित को पवित्र करते हैं और अधम उद्धारक हैं एवं अशरण को शरण देते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि ये तीनों विशेषण और इस प्रकार के अन्य अनेक विशेषण परमात्मा के साथ बिलकुल ठीक बैठते हैं। बात यह है कि परमात्मा भक्त के इस प्रकार के सब उपकारों के लिये केवल निमित्त कारण है। स्वयं वह कुछ नहीं करता और न कर सकता है। क्योंकि वह सर्वथा रागद्वेष विहीन है। निग्रह और अनुग्रह बिना राग द्वेष के नहीं हो सकते फिर भी 'पतित पावन' जैसे शब्दों का प्रयोग वीतराग भगवान के लिये किया जाता है और उनके निमित्त से ये सारे काम भी हो सकते हैं किन्तु यहां पर यह समझ लेना चाहिए कि भगवान की भक्ति से भक्त का उपकार तभी हो सकता है जब वह उनके निमित्त से अपना उपयोग शुभ बनाले। वास्तव में तो भगवान के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ शुभोपयोग ही पतित पावन और अधम उद्धारक है; किन्तु निमित्त कारण की मुख्यता से ये ऊपर के सारे विशेषण भगवान के लिये ही उपयुक्त होते हैं। इन सब प्रयोगों की यथार्थता के संबंध में हमारा सारा संदेह तब गायब हो जाता है जब हम महाभारत के एकलव्य को मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढकर महान धनुर्विद्या विशारद होने की बात पढते हैं। चाहे कोई मूर्ति पूजा माने या न माने किन्तु उससे होने वाले प्रभावों और व्यवहारों से इनकार नहीं किया जा सकता। शुद्ध मन से की गई स्तुति आत्मा के मैल को अवश्य धोती है। आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, धनंजय, वादिराज, मानतुंग हेमचन्द्र आदि महा विद्वानों की स्तुतियां हमारे हृदय पर एक अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

श्रीमद् देवचन्द्र जी का चतुर्विंशति जिन स्तवन स्तुति साहित्य की एक उत्कृष्ट रचना है। इसके अर्थावगम सहित पाठ से अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है इस स्तवन में स्थान स्थान पर कवि की दार्शनिकता का परिचय प्राप्त होता है। कविने भक्ति के प्रसंग में अनेक दार्शनिक तत्वों का समावेश इसमें किया है। भक्ति का ऊंचा से ऊंचा स्तर इस रचना में हमें देखने को मिलता है भक्ति से उत्पन्न होने वाली भावुकता के साथ दार्शनिकता के सम्मिश्रण ने इस स्तवन की महिमा को द्विगुणित कर दिया है। इसमें कहीं भी कर्तृत्ववाद की बू नहीं आती। इसकी भाषा का प्रवाह स्वाभाविक और प्रांजल है जिससे पता चलता है कि कवि ने कहीं भी खींचातानी नहीं की है। यह उनकी नैसर्गिक प्रतिभा का परिणाम है। इन स्तवनों का कवि केवल कवि ही नहीं सन्त भी है। सन्त जब कवि की भाषा में बोलता है तब उसका माधुर्य इतना आकर्षक बन जाता है कि भक्ति साकार होकर हमारे सामने आजाती है।

मेरे मित्र श्री उमरावमल जी जरगड़ ने जब इन स्तवनों का मुझे पहली बार परिचय कराया तो इससे मैं काफी प्रभावित हुआ। मैं उन्हें पूरा पढ़ गया। राजस्थानी

एवं गुजराती से प्रभावित इनकी भाषा सचमुच मधुरिमा से ओत प्रोत है।

मैंने जरगड़ जी को इसका हिन्दी अनुवाद कर पाठकों के सामने उपस्थित करने की प्रेरणा दी और कहा कि इसमें विलम्ब न होना चाहिये। जरगड़ जी साहित्यिक प्रवृत्ति वाले हैं और उन का भक्त हृदय ऐसी रचनाओं की ओर स्वाभाविक रूप से आकृष्ट रहता है। प्रसन्नता की बात है कि मेरी प्रेरणा सफल हो रही है और इस स्तवन का हिन्दी अनुवाद पाठकों के सामने आरहा है। मैं इस पुस्तक के प्रकाशन को जरगड़ जी की साहित्य सेवा का श्री गणेश समझता हूँ। मुझे आशा है कि वे कवि आनंदघन और यशोविजय की राजस्थानी एवं गुजराती रचनाओं का भी इसी प्रकार अनुवाद प्रकाशित कर हिन्दी पाठकों के सामने उपस्थित करेंगे।

अध्यक्ष
जैन संस्कृत कालेज
जयपुर
७-७-५६

चैनसुखदास न्यायतीर्थ

श्रीमद् देवचन्द्रजी का जीवन चरित्र

॥ भक्त त्रिमूर्ति ॥

उत्कृष्ट अध्यात्मामृत का राजस्थानी व गुजराती भाषा में पान कराने वाले श्वेताम्बर समाज में तीन मुनिराज हुये हैं। इनके विषय में योगदृष्टि समुच्चय के अनुवादक मेरे मित्र डाक्टर श्री भगवानदासजी मेहता लिखते हैं :—

'आनन्दघनजी, यशोविजयजी और देवचन्द्रजी ये तीनों परमात्म दर्शन का साक्षात्कार किये हुये भक्त शिरोमणि महात्मा हो गये हैं। उनके परम भावोल्लासमय अनुभव भावोद्गारों पर से इसकी सुप्रतीति हो जाती है "विमल जिन दीठा लोयणे आज" "दीठी हो प्रभु! दीठी जग गुरु तुज" "दीठो सुविधि जिणंद समाधि रसे भर्यो रे" यह वचन उसकी साक्षी देते हैं। ये विरल विभूति रूप महागीतार्थ महात्मा वीतरागदर्शन की अपूर्व प्रभावना करने वाले महाज्योतिर्धर हो गये हैं। इस भक्त त्रिमूर्ति ने अद्भुत भक्तिरस और उत्तम अध्यात्म योग का प्रवाह बहाकर जगत पर परम उपकार किया है। मत दर्शन के आग्रह से दूर रहने वाले ये विश्वग्राही, विशाल दृष्टि वाले, महाप्रतिभा-सम्पन्न, तत्वदृष्टा किसी एक सम्प्रदाय के ही नहीं सारे जगत के हैं।'

[1]"आनन्दघनजी और यशोविजयजी दोनों समकालीन थे। आनन्दघनजी जैसे संत का दर्शन-समागम यशोविजयजी के जीवन की एक क्रांतिकारी विशिष्ट घटना थी। इन परम-अवधूत-भाव-निर्ग्रंथ आनन्दघनजी के दर्शन-समागम से इनको बहुत आत्मलाभ और अपूर्व आत्मानन्द हुआ। इस परम उपकार की स्मृति में श्री यशोविजयजी ने महागीतार्थ आनन्दघनजी की स्तुति रूप अष्टपदी की रचना की है। उसमें उन्होंने परम आत्मोल्लास से मस्त दशा में विचरते आनन्दघनजी की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुये गाया है कि—'पारसमणि समान श्री आनन्दघनजी के समागम से लोह जैसा मैं यशोविजय सुवर्ण बना! कैसी भव्य भावांजलि है'। '[2]इस भक्त त्रिमूर्ति का आगम और न्याय विषय का ज्ञान अगाध था। आनन्दघनजी के एक-एक वचन के पीछे आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान व अनन्य तत्वचिंतन का समर्थ

१. देखो प्रज्ञावबोध मोक्षमाला शिक्षापाठ ८८–८९

२. वहीं पृ० ३११

सौष्ठव दिखाई देता है। श्री देवचन्द्र जी का आगमज्ञान भी वैसा ही

अद्भुत पारमार्थिक नय घटना आदि से भी स्पष्ट दिखाई देता है।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मस्तयोगी आनन्दघन जी की वाणी से हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती भाषी देश गूंज रहे थे। योगी की वाणी में अद्भुत चमत्कार था। दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाले अन्तरंग भावों की गुत्थियों की विषमता को कवि यथार्थ रूप में अपनी कविता में वर्णन करते हैं। किसी भी पद को लीजिये, जीवन के गहन भावों को लेकर वह चलते हैं। ज्यों ज्यों आगे बढ़िये उत्कंठा बढ़ती ही जाती है, पद के अन्त में कवि उस उत्कंठा का ऐसा समाधान करते हैं कि चित्त बिलकुल शांत हो जाता है। ये भाव पढ़ने वाले के चित्त की तह में पहुँच जाते हैं और रह रह कर उन भावों की स्मृति सजग हो जाती है। आनन्दघन जी की कविता सौंदर्य और अनुभूति से सराबोर है। मानव हृदय पर आघात करने वाली उद्वेग की आँधी व साम्प्रदायिता के पक्षपात का कहीं नाम निशान भी नहीं है। इस ही कारण जैन व जैनेतर सब लोग आपकी कविता का बड़े चाव से पाठ करते हैं। उस समय आजकल की भांति प्रचार के साधन समाचार पत्र व रेडियो नहीं थे किन्तु जनता जनार्दन ही उत्कृष्ट कवियों की कविता को वहन करती थी जो बहुत तेजी से एक नगर से दूसरे नगर में पहुँच जाती थी। इस प्रकार गाँव गाँव, नगर-नगर में प्रचार होने से वे संस्कार जनता के हृदय में दृढ़ हो जाते थे। आनन्दघन जी की कविता में सूरदास व मीरां की सी भक्ति, तुलसी की उदात्तता तथा बिहारी का सा अर्थ गौरव है। यदि यह वैदिक सम्प्रदाय में हुवे होते तो इनकी कविता के अनेक अनुवाद हो गये होते। अपने समाज की अकर्मण्यता पर खेद होता है; यदि अपनी वस्तु को हम ही प्रकाश में न लावेंगे तो दूसरा कौन लावेगा? साम्प्रदायिक तनाव को मन्द करने के लिये पूज्य गांधी जी ने जिस पद का प्रचार किया था 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान' उससे कहीं अधिक उदात्त विचार आध्यात्मिक भूमिका पर श्री आनन्दघन जी ने आज के तीन सौ वर्ष पहले ही रख दिये थे। उनका पद यह है:—

राम कहो रहमान कहो, कोउ कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥

श्रीमद् देवचन्द्रजी के साहित्य के प्रकाशन का श्रेय श्री बुद्धिसागर सूरिजी को है। श्रीमद् की भाषा के आधार पर एक आचार्य श्री ने श्रीमद्

देवचन्द्र जी का जन्म गुजरात में होने की कल्पना की थी[१]। इसी भांति श्री बुद्धिसागर सूरिजी ने श्री आनन्दघन जी का जन्म भी गुजरात में होने की कल्पना की है[२]। इस पर श्री मोतीचन्द जी गिरधर लालजी कापडिया ने आनन्दघन पदावली में उनके जीवन चरित्र में उनकी भाषा के सम्बन्ध में बहुत विवेचन किया है। उनका कहना है कि:—[३]"मनसुख भाई रवजी भाई जैन काव्य दोहन प्रथम भाग के उपोद्घात में जो श्री आनन्दघन जी की भाषा को काठियावाड़ संस्कार वाली कहते हैं और श्री बुद्धिसागर जी गुजराती कहते हैं यह दोनों बातें गलत हैं'। श्री कापड़ियाजी ने आनन्दघनजी की भाषा को बुन्देलखंडी माना है, इस पर विवेचन करते हुये, आचार्य क्षिति मोहनसेन लिखते हैं:—[४]

"आनन्दघन जी की भाषा पर राजस्थानी और गुजराती का बहुत प्रभाव है। उसमें कितना प्रभाव पद कर्त्ता का है और कितना संग्रह कर्ता का, इसका निर्णय करना कठिन है। मोती चन्द्र कापड़िया महाशय ने श्री गंभीर विजय जी गणी महाशय द्वारा सुना है कि ऐसी भाषा की सम्भावना बुन्देलखण्ड में हो सकती है। गंभीर विजय जी का जन्म भी बुन्देलखण्ड में हुआ है। वे समझते हैं कि ऐसी सब विशेषताएं केवल उनकी जन्म भूमि में ही हो सकती है किन्तु पूर्वी—राजपूताने के बहुत से भक्तों की ऐसी ही भाषा दिखाई देती है और उन सब देशों में ही आनन्दघन के पूर्व और बाद में भी बहुत से भक्तों का जन्म हुआ था। जैन साधुओं की साक्षी अनुसार आनन्दघन का अंतिम जीवन पश्चिमी राजपूताने के मेड़ता नगर में व्यतीत हुआ था। उनकी रचना में जो राजस्थानी और गुजराती प्रभाव हैं वह बुन्देलखण्ड में कैसे संभव हो सकता है? राजस्थान की रचना में ही यह खूबी मिलती है इसलिए मैं ठीक-ठीक नहीं समझ सका कि राजपूताना ही आनन्दघन का जन्म स्थान क्यों न माना जाय?"

इन कवियों की भाषा के सम्बन्ध में बहुत मत भेद है इसलिये यहां भाषा के सम्बन्ध में विचार करना बहुत आवश्यक लगता है। दिवंगत प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री मोहनलाल जी दली चन्द जी देसाई B. A. L. L. B. ने जैन गुर्जर कवियों के प्रथम भाग में जैन दृष्टि से गुजराती भाषा पर विचार

---

१. देखो द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना पृ० २०

२. देखो आनन्दघन पद संग्रह की भूमिका का पृ० १५४

३. देखो श्री कापडिया जी कृत आनन्दघन पदरत्नावली में जीवन चरित्र

४. देखो वीणा नवम्बर १९३८

किया है। जैनेतर इतिहासज्ञों के सन्मुख या तो जैन साहित्य नहीं रहा या इस ओर उन्होंने लक्ष नहीं दिया इस कारण उन्होंने "नरसिंह मेहता को वर्तमान गुजराती का आदि कवि माना है"[1]।

श्री देसाई महोदय ने गुजराती भाषा का विशद इतिहास ३२० पृष्ठों में लिखा है जिसमें प्राकृत अपभ्रंश व गुजराती का पूरा इतिहास है। श्री देशाई महोदय गुजराती साहित्य को तीन भागों में विभक्त करते हैं।[2] 'अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और अर्वाचीन गुजराती। विक्रम की बारहवीं शताब्दी से १४५० तक अपभ्रंश युग, उससे उन्नीसवीं सदी तक प्राचीन साहित्य युग और उसके पीछे का अर्वाचीन साहित्य युग है। नरसिंह मेहता से नाकर तक का साहित्य मिश्र साहित्य है......तो भी वह प्राचीन साहित्य की कक्षा में माना जाता है'।

अनेक शताब्दियों से जैनियों की मुख्य आबादी गुजरात और राजस्थान में रही हैं इसलिये अब हमें राजस्थानी के विषय में भी अच्छी तरह जान लेना चाहिये। यद्यपि राजस्थानी का विपुल साहित्य है किन्तु वह प्रकाश में बहुत ही थोड़ा आया है।

राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम उदयपुर अधिवेशन के सभापति मुनि श्री जिन विजयजी ने कहा था कि [3]'पुरातन हिन्दी अथवा पुरातन राजस्थानी के, जिसकी एक उपशाखा पुरातन गुजराती भी है, क्रम विकास का शृंखलाबद्ध और सुव्यवस्थित ज्ञान कराने वाली जितनी विशाल साहित्य सामग्री राजस्थान के पुराने पुस्तकभंडारों में और अन्यान्य व्यक्तियों के अधिकार में अब भी विद्यमान है, उसका इन अध्ययनशील लेखकों और अध्यापकों को कुछ भी पता नहीं है। मेरे अवलोकन में ऐसी छोटी बड़ी सैकड़ों नहीं हजारों कृतियां आई हैं जिनके अध्ययन व संशोधन से हम अपनी भाषा के जीवन-क्रम का बड़ा अपूर्व ज्ञान कर सकते है। इन कृतियों के आधार से हम अपनी भाषा के कम से कम विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक के एक हजार वर्ष व्यापी जीवन काल का बहुत कुछ क्रमिक ज्ञान उपलब्ध कर सकते हैं।"

---

१. देखो देसाई महोदय कृत गुर्जर कविओ प्रथम भाग में भाषा का इतिहास पृ० ३२०

२. देखो जैन गुर्जर कवि प्रथम भाग पृ० ३१६

३. देखो नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ० २२

'१३ वीं शताब्दी से लेकर १५ वीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थान में जो रास, भास, फाग, चउपई और प्रबन्ध इत्यादि पद्य कृतियों का निर्माण हुआ है उसकी तो गिनती भी करनी कठिन है'।

[1]"ये सब कृतियां प्राय: उन जैन यतियों की है जिन्होंने हमारी भाषा के भण्डार को सबसे अधिक समृद्ध और सबसे अधिक विस्तृत किया है। जब हम कबीर, दादू और राम सनेही पंथ के संतों की वाणी का आदर युक्त आकलन करते हैं और अष्ठ छाप आदि के रचयिता वैष्णव भक्तों की रचनाओं का उत्साह पूर्वक परिशीलन करते हैं तब हमें इन जैन यतियों की उन अनुपम कृतियों का भी वैसे ही आदर और उत्साह से अध्ययन करना चाहिये'।

बीकानेर राज्य साहित्य सम्मेलन के चतुर्थ चूरू अधिवेशन के सभापति श्री ठाकुर रामसिंहजी, एम० ए० विद्यारत्न ने कहा था[2]—"राजस्थानी के विरोधियों का आक्षेप यह है कि राजस्थानी कोई पृथक् भाषा नहीं है। वह तो अवधी, ब्रजभाषा आदि की तरह हिन्दी की उप भाषा है किन्तु इस बात का प्रमाण उनके पास कुछ भी नहीं है, जबकि दूसरी ओर भाषा विज्ञान के सभी धुरंधर विद्वानों ने राजस्थानी को हिन्दी से भिन्न माना है। इन विद्वानों में डाक्टर सरजार्ज ग्रियर्सन, डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० धीरेन्द्र वर्मा के नाम गिनाए जा सकते है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से राजस्थानी हिन्दी से बहुत दूर है। उसका निकट सम्बन्ध किसी से है तो गुजराती से है, न कि हिन्दी से"

[3]'बाहर के लोग उसको पढ़ने के लिए लालायित हैं पर हमसे इतना भी नहीं होता कि उनके लिए राजस्थानी साहित्य से अध्ययन करने के साधन तो जुटा दें। इतने विशाल साहित्य में भाग्य से ही कोई तीन चार कोडी ग्रन्थों ने प्रकाश देख पाया है। कोई व्याकरण नहीं, कोई कोष नहीं, जिससे बाहर के विद्वान राजस्थानी साहित्य का अध्ययन सुविधा से कर सकें'।

[4]'भाषा विज्ञान के सभी विद्वानों ने राजस्थानी को हिंदी से पृथक भाषा माना है। उनमें खड़ी बोली, ब्रज भाषा, बुन्देली तथा अवधी को हिन्दी के

१. राजस्थानी भाषा का महत्व पृ० २७
२. राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ० ५६
३. वहीं पृ० ५८
४. वहीं पृ० ७६

अन्तर्गत हिन्दी की शाखायें करके गिना है पर राजस्थानी को हिन्दी से अलग रखा है। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी, भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग हिन्दू विश्व विद्यालय तथा सभापति नागरी प्रचारिणी सभा काशी लिखते हैं:—

[१]"मध्यवर्ती भाषायें सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती····। राष्ट्रीय दृष्टि से ये सब हिन्दी की विभाषाएं मानी जा सकती हैं पर भाषा शास्त्र की दृष्टि से ये स्वतन्त्र भाषाएं मानी जाती हैं'।

इन्हीं डाक्टर साहब ने हिन्दी भाषा और साहित्य के पृष्ठ ६६ में कहा है कि[२] 'संज्ञाओं के कारक रूपों में यह गुजराती से बहुत मिलती है, पश्चिमी हिन्दी से नहीं। राजस्थानी विभक्तियां भी अलग ही हैं। जहां कहीं समानता है वहां गुजराती से अधिक है, पश्चिमी हिन्दी से कम।' पृष्ठ ३४ में कहा है कि 'दोनों को (राजस्थानी व गुजराती को) एक ही भाषा की दो विभाषाएं मानना भी अनुचित न होगा'।

राजस्थानी का इतिहास[३]

राजस्थानी बहुत पुरानी भाषा है। उसकी उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई है। वह भारत वर्ष की भाषाओं में द्राविडी भाषाओं को छोड़कर सब में प्राचीन है। वह अपभ्रंश की जेठी बेटी और अन्य भारतीय भाषाओं की जेठी बहिन है। सबकी जन्मदात्री अपभ्रंश के वह सब से अधिक निकट है अर्थात् अपभ्रंश से सबसे अधिक समानता रखती है।

"[४]मध्यकाल में राजस्थानी जिसे डाक्टर टैसीटोरी पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं, गुजरात से लेकर प्रयाग तक साहित्य की प्रमुख भाषा थी। कबीर की भाषा में राजस्थानी का इतना अधिक मेल है कि उसे सहज ही राजस्थानी कहा जा सकता है"।

'[५]राजस्थानी साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैनों का लिखा हुआ है। चारणी-साहित्य से तो लोग थोड़े बहुत परिचित हैं भी, पर जैनों ने भी राजस्थानी में साहित्य रचना की है यह बहुत थोड़े लोग जानते हैं। वास्तव

१. राजस्थानी भाषा का महत्व पृ० ७७ तथा भाषा रहस्य पृ० २०१

२. वहीं पृ० ७८

३. वहीं पृ० ७७-७८

४. रा० सा० म० ७६

५. वहीं पृ० ८२-८३

में जैन साहित्य चारणी–साहित्य से कहीं बड़ा है। चारणों का ध्यान साहित्य को लिपि बद्ध करने की ओर कम रहता था इस कारण उसका बहुत कुछ भाग नष्ट हो गया पर जैनों ने अपना साहित्य बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा।'

विद्वानों की इन सम्मतियों से स्पष्ट है कि राजस्थानी में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में है किन्तु हम लोगों की अकर्मण्यता से वह प्रकाश में नहीं आया। जैन श्वेतांबर मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के अधिकांश साहित्य का प्रकाशन गुजराती में हुआ है। यदि कोई साहस करके राष्ट्रभाषा हिन्दी में छपा भी लेता है तो उसकी मांग बहुत अल्प रहती है क्योंकि अधिकांश पाठक गुज़-राती होते हैं।' अतः यह कार्य किसी संस्था द्वारा होना चाहिए तथा लेखकों को ऐसा साहित्य प्रकाश में लाना चाहिए जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर जैन व जैनेतर को समान रूप से उपयोगी हो।

'डाक्टर सुनीतीकुमार चाटुर्ज्या[१] कहते हैं कि 'गुजराती व राजस्थानी का एक ही और वही उद्‌गम स्थान है जिसे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया गया है। सोलहवीं शताब्दी से गुजराती प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से पृथक होती हुई एक जुदी भाषा अवश्य बन गई है।'

१६वीं शताब्दी से पश्चिमी राजस्थानी से गुजराती पृथक होने लगी किन्तु वर्तमान राजस्थानी व पुरानी राजस्थानी में विशेष अन्तर नहीं पड़ा इसलिये विद्वान लोग उस प्राचीन भाषा को पश्चिमी पुरानी राजस्थानी कहते हैं।

गुजराती के पृथक रुख स्वीकार करने पर भी राजस्थानी जैन लेखकों का झुकाव भी कुछ गुजराती की तरफ ही रहा प्रतीत होता है। इसके निम्न कारण हो सकते हैं:—

---

१. राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ० ७८

Gujarati and Rajasthani are derived from the one and same source dialect to which the name of Old Western Rajasthani had been given.............. Gujarati must have differenciated from the Old Western Rajasthani in the sixteenth centuary into a seperate language. (Origin and development of the Bangali language Vol. I page 9.

(१) श्री हेमचन्द्र सूरि व महाराज कुमारपाल के पश्चात् जैनियों का मुख्य केन्द्र गुजरात ही रहा है। यहां ही जैन प्रजा की अधिक आबादी रही हैं इसलिये ऐसा साहित्य अधिक लोगों के उपयोग में आसकता है।

(२) प्रसिद्ध तीर्थ शत्रुंजय, गिरनार, तारंगा, शंखेश्वर इस ही प्रान्त में होने से साधु साध्वी व श्रावक श्राविकाओं का यहां आना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य था। दीर्घकाल तक उन लोगों के यहां रहने से उनकी रचना में गुजराती शब्दों का आना सामान्य बात है।

(३) राजस्थानी भाषा के विद्वानों[१] ने राजस्थानी के चार मुख्य भेद किये हैं। मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी और मालवी। इन चार भेदों के अतिरिक्त और भी अनेक उपभेद हैं। इस कारण भी उनका झुकाव गुजराती की तरफ विशेष होना संभव है।

अत: भाषा के आधार पर कवि के जन्म स्थान की कल्पना करना बहुत जोखिम भरा कार्य है जैसा कि श्री देवचन्द्र जी के बारे में हुआ।

॥ श्रीमद् देवचन्द्रजी ॥

श्री मणिलाल जी मोहनलाल जी पादराकर ने भावनगर में श्रीलालन के सभापतित्व में हुई सप्तम गुर्जर साहित्य परिषद् के अधिवेशन सं. १९८० में श्रीमद् देवचंद्र जी का विस्तृत जीवन चरित्र पेश किया था। उसमें श्रीमद् के जीवन के विषय में अनेक कल्पनाएं की गईं थीं। श्रीमद् देवचन्द्र के प्रथम संस्करण में अष्ट प्रकारी पूजा व इक्कीस प्रकारी पूजा को उनकी रचना समझ कर उसमें मुद्रित किया गया था। उसमें जो निम्न पद आता है उससे अनेक प्रकार के अनुमान लगाए गए।

'संवत् गुण युग अचल इंदु, हर्ष भर गाइयो श्री जिनेन्दु'
'तासफल सुकृत थी सकल प्राणी, लहो ज्ञान उद्योत धन शिव निशानी'

गुण ३ युग ४ अचल ७ इन्दु १ इस भांति इसकी रचना काल १७४३ है अत: श्री पादराकर जी ने सं. १७४३ में इनकी उम्र २२-२३ वर्ष की मानकर इनका जन्म सं. १७२० का माना किन्तु जब देव विलास नामक कविता प्रकाश में आई तो यह सब अनुमान गलत सिद्ध हुए। देवविलास के अनुसार श्री देवचन्द्र जी का जन्म सं. १७४६ में बीकानेर के उपनगर में हुआ था। अत: सं. १७४३ में रची जाने वाली पूजाएं भी इनकी कृति

१. रा० सा० म० पृ० ७४ तथा भाषा रहस्य पृ० ६३

नहीं थी[1] इसलिये श्रीमद् देवचंद्र जी के द्वि० संस्करण में ये दोनों वस्तुएँ नहीं दी गईं। श्री पादराकर जी ने सं० १९८२ में देवविलास के आधार पर फिर श्रीमद् का जीवन चरित्र प्रकाशित किया। इसकी विस्तृत भूमि का प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री मोहनलाल जी दलीचंद जी देसाई B. A. L. L. B. ने लिखी है। श्री देसाई जी ने जैन गुर्जर कवि भाग २ में भी श्रीमद् के जीवन व कृतियों पर काफी प्रकाश डाला है। श्रीमद् देवचंद्र नामक पुस्तक के द्वितीय संस्करण में श्री नागकुमार जी मकाती ने श्रीमद् के साहित्य पर अपने विचार प्रकट किए हैं तथा देवविलास के अनुसार उनका जीवन चरित्र लिखा है। देवविलास नामक कविता श्री अगरचन्द जी भंवरलाल जी द्वारा प्रकाशित जैन ऐतिहासिक काव्य सग्रह के पृ. २६४ में भी है। श्री नाहटा जी ने सं. २०१२ में श्रीमद् देवचंद्र स्तवनावली प्रकाशित की थी जिसमें भी उनके जीवन चरित्र पर व उनकी कृतियों पर लिखा है। श्री कवीन्द्रसागर जी उपाध्याय ने भी बीकानेर से प्रकाशित होने वाली बीशी में देव विलास के अनुसार श्रीमद् का जीवन आलेखन किया है। इतने लेखकों के लिखने पर भी इस महापुरुष के जीवन की अनेक बातों पर बारीकी से विचार करने की आवश्यकता है।

देवविलास अत्यंत प्रामाणिक है क्योंकि इसकी रचना उनके प्रशिष्य के कहने से कवियण ने उनके स्वर्गवास के १३ वर्ष पश्चात् अर्थात् संवत् १८२५ में की थी। रासकर्त्ता कवियण को कुछ लेखकों ने श्रीमद् का शिष्य कहा है पर यह ठीक नहीं क्योंकि श्रीमद् के प्रशिष्य रायचंद्र जी स्वयं कहते हैं कि:—

एक दिन श्री रायचंद कविनेरे कहे अम गुरू स्तवना करोरे।
अमे जो करिये स्तव तेह अण घटेरे, स्वकीर्ति करवी अयोग्यतारे॥

इससे स्पष्ट है कि कवियण उनके शिष्य नहीं थे।

कवियण ने श्री देवचन्दजी के पिता का नाम तुलसीदासजी लूणिया व माता का नाम धनबाई बताया है। बालक जब गर्भ में था तब ही पुण्यात्मा दम्पति ने वाचक राजसागरजी से प्रतिज्ञा करली थी कि यदि लड़का होगा तो वह उनको जरूर अर्पण कर देंगे जैसा कि श्री कवियण ने कहा है:—

---

१. श्री मो० द० देसाई इसे ज्ञानसारजी के शिष्य ज्ञान उद्योतजी की कृति मानते हैं

'पुत्र हुस्ये जे मह्यारे वोहरसवीस धरी भाव' बालक जब गर्भ में था तब माता ने जो स्वप्न देखा उसका वर्णन कविगण इस प्रकार करते हैं:—

शय्या में सुतां थकां किंचित् जागृत निंद ।
मेरू पर्वत उपरे, मिली चौसठ इन्द्र ॥
जिन पडिमानो ओछवकरे, मिलिया देवनावृन्द ।
अर्चा करता प्रभुतणी, एहवुं सुपने दीठ ॥
ऐरावण पर बेसीने, देता सहु ने दान ।
एहवूं सुपनते देखीने, थया जागृत तत्काल ॥
अरुणोदय थयो तत्क्षिणे, मनमें थयो उजमाल ।
दृष्टांत इहां मूलदेवनो, सुपन लह्युं हतुं चन्द्र ॥
मुखकज में प्रवेशता, ते थयो नरनो इन्द्र ।

मुख में चन्द्रमा ने प्रवेश किया, वह स्वप्न बड़ा गहन था। इसका फल किससे पूछा जाय ? देवी इसी विचार में थी कि उनके सौभाग्य से पैंसठवें पट्टधर श्री जिनचन्द्रसूरिजी वहां पधारे। धनबाई ने अपने स्वप्नों का वर्णन युग प्रधानाचार्यजी से किया, आचार्य श्री सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुए और फरमाया कि तुम्हारा यह पुत्र अत्यंत भाग्यवान होगा। या तो यह पुत्र छत्रपति होगा या सर्व विद्यानिधान पत्रपति होगा और बड़े बड़े समर्थ आचार्य व छत्रपति इसके आगे सिर झुकायेंगे। आचार्य श्री ने पुण्यवान् दम्पति से उस बालक की याचना की। उस समय दोनों पतिपत्नी बड़े धर्म संकट में पड़े। एक तरफ आचार्यजी की याचना, दूसरी तरफ राजसागरजी को वचनदान। इधर पुत्र की गच्छनायक होने की पूर्ण आशा थी पर उधर ऐसी कोई आशा न थी पर उन धर्मात्मा पतिपत्नी ने अपना वचन निभाना ही अपना कर्त्तव्य समझा। यद्यपि श्री देवचदजी आचार्य नहीं बने किन्तु प्रत्येक गच्छ में उनका जो मान था वह किसी भाग्यशाली ही को प्राप्त होता है। उन्होंने अनेकों को विद्यादान दिया था। आज भी उनके ग्रन्थ मोक्षार्थियों का महाकल्याण कर रहे हैं इसलिये यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि वे आचार्यों के भी आचार्य थे, उस युग के प्रधान पुरुष व महान आगम धर थे।

तपागच्छ के श्री जिनविजयजी, उत्तम विजयजी को उन्होंने पढ़ाया था। श्री जिनविजयजी व उत्तम विजयजी कोई सामान्य साधु नहीं थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार[1] श्री हीर विजय सूरिजी ५८वें पाट पर हुए। ६१वें पाट पर विजयसिंह सूरि हुए व उनके पाट सत्यविजयजी [2]पन्यास हुए जिन्होंने क्रियो-

१. देखो तपागच्छ श्रमण वंश वृक्ष पृ० ७

२. तपगच्छ में तब ही से पीतवस्त्र का प्रारंभ हुआ है।

द्धार किया था। सत्यविजयजी से तपगच्छ साधु-परंपरा में करीब १०० वर्ष तक किसी को आचार्य [1]पद नहीं दिया गया। सत्यविजय पन्यास की चौथी पीढ़ी में जिनविजयजी हुए थे। इनके पाटवी श्री उत्तमविजयजी हुए। धर्मसागरजी की [2]प्ररूपणाओं के कारण जैन श्वेतांबर संघ का ऐक्य १७वीं शताब्दी में छिन्न भिन्न होचुका था। ऐसे कदाग्रह के पश्चात श्री जिनविजयजी तथा उत्तम विजयजी जैसे महा पुरुषों का अन्यगच्छ के साधु के पास अध्ययन करना कोई सामान्य बात नहीं थी, इसलिये श्रीमद् देवचंद्रजी को महान युग प्रवर्त्तक पुरुष कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। मेरे कथन का समर्थन महाविद्वान् श्री पद्म विजयजी के इन शब्दों से भी होता है:—

खरतरगच्छ मांही थयारे लाल, नामे श्री देवचन्द्र रे सौभागी।
जैन सिद्धान्त शिरोमणी रे लाल, धैर्यादिक गुणवृंद रे सौभागी॥

॥ देवचन्द्रजी का जन्म व दीक्षा ॥

सं० १७४६ में बालक का जन्म हुआ। स्वप्न अवस्था में मुख में चन्द्रमा का प्रवेश हुआ था इसलिये देवचन्द्र नाम रखा गया। बालक जब ८ वर्ष के हुए तो वहां वाचक राजसागरजी महाराज पधारे। पुण्यवान दम्पत्ति ने प्रतिज्ञानुसार अपने लाडले पुत्र को उनके चरणों में अर्पित कर दिया।

वाचक श्री राजसागरजी, कोविद में शिरताज।
दिन केतला एक गया पछी, मन चिंत्यु शुभकाज॥
दीक्षा देवी शिष्यने, सुभ महुरत जोई जोस।
सुभ चोवड़ीए देखीने, तो थाये संतोष॥
संघ सकल ने तेडीने, दीक्षानी कही वात।
वचन प्रमाण करे तिहां, उलस्यां सहुनां गात्र॥
शुभ ओछव महोछवे, दीक्षा दीये गुरु राय।
संवत छपने जाणीये, लघु दीक्षा दीये गुरु राय॥
श्री जिनचन्द्र सूरीस्वरे, बड़ी दिक्षा दीये सार।
राज विमल अभिधा दीउ, श्रीजीनो घणो प्यार॥

---

१. देखो तपागच्छ श्रमण वंश वृक्ष पृ० १२

२. देखो जैन साहित्य का इतिहास पृ० ६३३
श्री धर्मसागरजी के देहान्त के पीछे भी उनके शिष्य उपाध्याय नेमिसागरजी और भक्ति सागरजी ने अपने गुरु की प्ररूपणाओं को प्रबल वेग से आगे बढ़ाया। (रा० सं० ४ नि० पृ० २१)

श्री जिनचन्द्र [1]सूरिजी ने बड़ी दीक्षा दी और राजविमल नाम रखा किन्तु देवचन्द्र नाम ही आपका अधिक प्रसिद्ध रहा। पूर्व वय के कुछ पदों को छोड़कर इन्होंने सर्वत्र अपनी कविता में देवचन्द्र नाम ही रखा है। ध्यान दीपिका चतुष्पदी में दूसरी ढाल की १७वीं गाथा में तथा तीसरे खंड की २२वीं गाथा में राजविमल नाम आया है।

वेसाड़ी गांव में वेणा तट पर भूमि गृह में रहकर दीक्षा गुरु राजसागरजी के दिये गये सरस्वती के मंत्र की आपने आराधना की और सरस्वती की कृपा प्राप्त की। कवियण की इस बात पर शंका करते हुए श्री मोहनलालजी दलीचन्दजी देसाई B. A. L L. B. देव विलास की भूमिका पृष्ठ ३ में कहते हैं कि 'यदि ऐसा होता तो श्री देवचन्द्रजी कहीं न कहीं सरस्वती की स्तुति अवश्य करते इसलिये दोनों भाग देख गया पर कहीं भी सरस्वती की स्तुति प्राप्त न हुई।' मेरी सम्मति में 'जिनवाणी' ही सरस्वती है ऐसी मान्यता बहुत से कवियों की मैंने देखी है और उसही की स्तुति स्थान स्थान पर श्रीमद् ने की है।

गुरुजी के साथ आपने सिन्धु की ओर विहार किया। वहां से मुलतान पधारे। मुलतान में मिट्ठूमलजी भणशाली आदि अध्यात्म रसिक श्रावक रहते थे जिनके आग्रह से श्रीमद् ने ध्यानदीपिका चतुष्पदी की सं० १७६६ में रचना की थी। इस ग्रन्थ में श्री शुभचन्द्रजी के ज्ञानार्णव के आधार पर राजस्थानी में पद्य रचना की गई है। गुजराती लेखकों ने इसे जूनी गुजराती कहा है। भाषा के बारे में पहले विचार किया जा चुका है। यहां पर इसका एक पद दीया जाता है।

पंडित जन मन सागर ठाणी, पूरणचन्द्र समान जी।
सुभचन्द्राचारिजनी वाणी, ज्ञानी जन मन भाणीजी ॥२॥
संवत लेश्या रसने वारो १७६६, ज्ञेय पदार्थ विचारोजी।
अनुपम परमातमपद धारो, माधवमास उदारोजी ॥६॥

---

१. खरतरगच्छ में प्रत्येक चौथे पट्टधर का नाम जिनचन्द्र सूरि रखने की रीति बहुत प्राचीन है नवांग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी के ज्येष्ठ गुरु भ्राता संवेग रंगशाला के कर्ता जिनचन्द्र सूरि से ये रीति चली आई है। उपरोक्त चन्द्रसूरिजी अकबर प्रतिबोधक जिनचन्द्र सूरिजी नहीं थे जो ६१वें पट्टधर हुए हैं बल्कि ६५वें पट्टधर थे, जिनका शासनकाल सं० १७११ से १७६२ तक रहा है।

श्रीमद् को साम्प्रदायिक आग्रह बिल्कुल नहीं था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग जिस प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थ पढ़ते हैं, वैसे ही दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ पढ़ें, इसी विचार से उन्होंने ज्ञानार्णव के आधार पर श्री ध्यानदीपिका चतुष्पदी का अनुवाद किया होगा अन्यथा वे श्री हेमचन्द्र के योग शास्त्र का भी, जो इसी विषय पर है, अनुवाद कर सकते थे। श्रीमद् ने विचारा होगा कि वीर भगवान के ये दो पुत्र अकारण ही एक दूसरे से विरत हैं, इनकी परस्पर निकटता ही जैन शासन को उन्नत कर सकती हैं। श्री कवियण ने कहा है 'गोमटसार दिगम्बरी वाचना करे हित नह' इससे भी श्रीमद् की निष्पक्ष दृष्टि प्रगट होती है। यह बड़े गुणग्राही थे इन्होंने अनेक दिगम्बर आचार्यों की स्तवना की है[1]।

ध्यान दीपिका चतुष्पदी के छै खण्डों और अठ्ठावन ढालों में बारह भावना, पंच महाव्रत धर्मध्यान शुक्लध्यान–पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यान के गूढ़ तत्त्व पर श्रीमद् ने पूर्ण प्रकाश डाला है। ध्यान विषय के भाव जैन ग्रंथों में यह विशिष्ट स्थान रखता है।

इसके पीछे १७६७ में बीकानेर में द्रव्यप्रकाश[2] नामक ग्रंथ बनाया द्रव्यानुयोग जैसे कठिन विषय को कवि ने सरलता व सरसता पूर्वक रखा है श्रीमद् देवचन्द्रजी की दृष्टि में शुद्ध आत्मस्वरूप ही वसता था उनके रग २ में यही रस व्याप्त था अतः उनकी वाणी में सर्वदा इसही तत्त्व का विवेचन होता था। इस ग्रन्थ का अंतिम पद यहां दिया जाता है:—

परसुं प्रतीत नाहिं, पुण्य पाप भीति नाहिं,
रागदोष रीति नाहिं आतम विलास है।
साधक को सिद्धि है कि बुज्जवै कु बुद्धि है की,
रंजिवै को रिद्धि ज्ञान भान को विलास है॥
सजन सुहाय दुज चंद ज्युं चढाव है कि,
उपसम भाव यामै अधिक उल्लास है।
अन्यमत सौ अफंद वंदत है देवचंद,
ऐसे जैन आगम में द्रव्य को प्रकाश है॥

संवत् १७७४ में इनके दीक्षागुरू वाचक राजसागरजी का एवं १७७५ में पाठक ज्ञानधर्मजी का स्वर्गवास होगया।

---

१. देखो ध्यान दीपिका चतुष्पदी

२. इसकी भाषा में थोड़ा व्रजभाषा का प्रभाव है।

संवत् १७७६ में श्रीमद् ने सब आगमों का सार रूप सुप्रसिद्ध ग्रंथ आगमसार की रचना अपने मित्र दुर्गादास के लिये की थी।

करयों इहां सहाय अति, दुर्गादास शुभचित्त।
समजावन निजमित्रकुं, कीनों ग्रंथ पवित्त ॥१२॥
ग्रन्थ कियो मन रंग सों, सित पख फागुण मास।
भौमवार अरू तीज तिथि, सफल फली मन आस ॥१८५
संवत् सत्तर छिहत्तरे, मन शुद्ध फागुण मास।
मोटे कोट मरोट में, वसतां सुख चौमास ॥५॥

आगम सार के विषय में श्री नागकुमार मकाती ने श्रीमद् देवचन्द की द्वितीय आवृत्ति के प्रथम भाग की प्रस्तावना में कहा है कि स्वर्गस्थ योगनिष्ठ आचार्य श्री बुद्धि सागरजी ने दीक्षा लेने के पहले इस ग्रंथ का सौ बार अध्ययन किया था। प्राचीन आगमसार की प्रतियों में (१) प्रतिमा पुष्प पूजा सिद्धि (२) गुणस्थान अधिकार यह दो विषय और थे जो वर्तमान मुद्रित आगमसार में नहीं मिलते। 'श्रीमद् देवचन्द्र' के प्रथम सस्करण में यह चीज पुस्तक के अंत में है तथा द्वितीय संस्करण में आगमसार में ही दिया हुआ है। यह दोनों प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रीमद् की प्रसिद्धि गुजरातादि प्रांतों में पहुँच चुकी थी। श्री क्षमा विजयजी ने उन्हें गुजरात में पधारने का आग्रह किया। सं० १७७७ में श्रीमद् पाटण पधारे। सर्व शास्त्र पारंगत महान तत्त्ववेत्ता इन महात्मा का उपदेश सुनने हजारों लोग एकत्रित होते थे। स्याद्वाद शैलीपूर्ण इनके उपदेश का गहरा प्रभाव लोगों पर होता था। इनके उपदेश में अद्भुत आकर्षण था। लोग मंत्र मुग्ध की भांति हो जाते थे।

यहां के नगर सेठ श्रीमाल जाति दोसी तेजसी जेतसीने सहस्त्रकूट जिनबिंब बनवाया था श्रीमद् ने स्वयं सहस्त्रकूट स्तवन में कहा है:—

श्रीमाली कुलदीपक जेतसी, शेठ सुगुण भंडार विवेकी।
तस सुत सेठ शिरोमणी तेजसी, पाटण नगर में दातार ॥११॥
तेणे ए बिंब भराव्या भावशुं, सहस अधिक चौवीस विवेकी।
कीधी प्रतिष्ठा पुनमगच्छ धरू, भाव प्रभ सुरीस ॥१२॥

पाटण के ढांगड़िया वाड़े में जो मंदिर हैं उनमें एक सहस्त्रकूट जिन चैत्य भी है।

१. देखो ध्यान दीपिका चतुष्पदी।

यह जिन चैत्य अत्यंत अद्भुत है। श्री तीर्थराज शत्रुंजय पर श्री सहस्रकूट जिन पट चैत्य है किन्तु इस चैत्य की स्थापना उससे भी अद्भुत है।

श्रीमद् ने सेठजी से पूछा कि आपने सहस्रकूट के नाम तो गुरु मुख से अवधारण किये होंगे ? सेठजी ने अपना अजानपना प्रकट किया। सेठजी ने उस समय के अत्यंत विद्वान माने जाने वाले श्री ज्ञानविमल सूरिजी से पूछा। पर उत्तर मिला कि इस समय जो शास्त्र उपलब्ध हैं उनमें इनके नाम नहीं आते हैं। श्रीमद् ने जब ये नाम श्री ज्ञानविमल सूरिजी को बतलाए तो वे बहुत चमत्कृत हुए। [1]इस घटना से इन दोनों महापुरुषों में अत्यंत धर्म स्नेह बढ़ा व श्रीमद् की बहुत ख्याति हुई। श्री ज्ञानविमल सूरिजी ने इनका बहुत आदर बहुमान किया।

अनेक मुनिवरों ने श्रीमद् से शास्त्राध्ययन किया था। श्रीमद् में यह खूबी थी कि वे विद्यादान देने में कभी हिचकते नहीं थे। कवियण ने देव-विलास में कहा है:—

गच्छ चौरासी मुनिवरुरे, लेवा आवे विद्यादान।
नाकारों नहीं मुख थकीरे, नय उपनय विधान रे ॥
अपर मिथ्यात्वी जीवडारे, तेहनी विद्यानो पोस।
अपूर्व शास्त्रनी वाचनारे, देतां न करें सोसरे ॥
विद्यादान थी अधिकतारे, नहिं कोई अवर ते दान।
न करे प्रमाद भणावतारे, व्यसननो नहीं तोफान ॥

उस समय साध्वाचार में कुछ शिथिलता आगई थी, अतः आपने शिथिलता का परिहार करके क्रियोद्धार किया। कवियण कहते हैं:—

क्रियाउद्धार 'देवचन्द्रजी' कीधो मन थी जेह,
एपरिग्रह सवि कारिमो अंते दुःखनु' गेह।
नव नंदनी नवडूँगरी कीधो सोवन राशि,
साथे कोई आवी नहीं, जूठी धखी आसि ॥
धन धन श्री शालिभद्रजी, धन धन धन्नो सुजात,
अगणित ऋद्धि ने परिहरी, ए कांई थोड़ी बात।
बत्रीस कोटि सोवन तणी 'धन्नो' काकदी जेह,
मूकी श्रो जिन 'वीरनी' दीक्षा लीधी नेह ॥

---

१. इन नामों का वर्णन इन्होंने सहस्रकूट जिनस्तवन में किया है।

देवचन्द्र मन में चिंतवें हुं पामर मन मांहि,
मूर्छा धरूँ ते फोक सवि सत्य प्रभु मारग मांहि ।।

खरतर गच्छ की समाचारी पालते हुए श्रीमद् कभी अन्यगच्छ पर आक्षेप नहीं करते थे इस दृष्टि विशालता से आकर्षित होकर उस समय के साधुओं में स्तम्भ व प्रखर विद्वान गिने जाने वाले श्री जिनविजयजी उत्तम विजयजी तथा विवेक विजयजी ने श्रीमद् के पास भक्ति पूर्वक शास्त्राभ्यास किया श्री जिनविजयजी ने श्रीमद् के पास महाभाष्य का पारायण किया था जिसका वर्णन श्री उत्तम विजयजी ने श्री जिनविजय निर्वाण रास में इस भांति किया है। (जैन रासमाला पृष्ट १४५ तथा दे० गी० पृ० २३)

षिमा विजय गुरु कहण थी, पाटणमां गुरुपास ।
स्वपर समय अवलोकतां, कीधां बहु चोमास ।।
श्री ठाकुरशी कने पढ्या, शब्द शास्त्र सुखवास ।
कांत्तिविजय गणी संगथी, प्राकृत शब्द अभ्यास ।।
ज्ञान विमल सूरी कने, वांची भगवति खास ।
महाभाष्य अमृत लह्यो, देवचद गणी पास ।।
काव्य छंद नाटक प्रमुख, अभ्यासीया बहुग्रन्थ ।
अनुक्रमे गीतारथ थया, विचरंना शुभ पंथ ।।

अहमदावाद में पूंजाशा नाम के एक श्रावक रहते थे। वे श्रीमद् के परिचय में आए श्रीमद् पर उनकी बड़ी भक्ति थी और श्रीमद् भी उन्हें प्रेमपूर्वक शास्त्राभ्यास कराते थे। कचराजी कीका जो नामक श्रीमाल[1] वणिक पाटण में रहते थे। वे व्यापार निमित्त सूरत में आकर रहने लगे थे। पुण्योदय से उन्होंने बहुत लक्ष्मी कमाली थी। उन्होंने सम्मेद शिखर का भी संघ निकाला था। संघ में कोई धर्मात्मा शास्त्रों का जानकार व्यवहार कुशल व्यक्ति अवश्य होना चाहिए, यह सोचकर उन्होंने श्रीमद् के सम्मुख अपने विचार प्रगट किए। श्रीमद् ने पूंजाशा के लिए सलाह दी और सेठ की प्रार्थना पर पूंजाशा उस संघ में सम्मलित हुए।

इन्हीं पुंजाशा ने आगे जाकर श्री जिन विजयजी से दीक्षा ली थी। श्रीमद् में एक बहुत बड़ी तारीफ की बात थी कि वह आनन्दपूर्वक विद्यादान देते थे किन्तु अपने पास दीक्षा लेने का आग्रह कभी नहीं करते थे। इस कारण भी सब गच्छ वाले उनपर पूज्य भाव रखते थे। यह कोई सामान्य

---

१. श्री देवचन्द्रजी के जी० में देसाईजी का वक्तव्य पृ० ११

बात नहीं थी। चेला चेली बढ़ाने के लिए क्या क्या उपाय नहीं किए जाते? किन्तु आत्मज्ञानी मुनिराज लड़का लड़की के समान चेला चेली का भी मोह नहीं रखते, उनका कार्य तो मार्ग बता देने मात्र का होता है।

श्री धर्मसागरजी ने उनके गच्छ[१] और गच्छ नायकों पर आक्षेप किये हैं। स्वयं श्री यशोविजयजी उपाध्याय ने धर्मसागराश्रित आगम विरुद्ध अष्टोत्तर शत बोल संग्रह, धर्म परीक्षा व उसकी टीका तथा प्रतिमा शतक में धर्मसागरजी की मान्यताओं का खंडन किया है, फिर भी श्री देवचन्द्रजी ने धर्मसागरजी के विरुद्ध कुछ नहीं कहा। जहाँ धर्मसागरजी अन्य गच्छों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को अपूज्य ठहराते थे वहां यह आत्मज्ञानी संत अन्य गच्छ के आचार्यों की स्तवना करते हुए उनके ग्रंथों का अनुवाद करते थे। ध्यान दीपिका चतुष्पदी, ज्ञान मंजरी तथा कर्म ग्रन्थ का टब्बा इस का ज्वलंत उदाहरण है। इस दृष्टि विशालता के कारण ही यह जैन मात्र के पूज्य बने।

वि० सं० १७९९ में श्री जिनविजयजी के स्वर्गवास होने के पश्चात् श्री उत्तम विजयजी ने सिद्धान्तों के अभ्यास के लिए श्री देवचन्द्रजी महाराज से विनती की। इसका वर्णन श्री पादराकरजी ने उत्तमविजयजी निर्वाण रास के आधार पर किया है[२]।

भावनगर आदेशे रह्या, भविहित करे मारा लाल।
तेडाव्या देवचन्द्रजी ने, हवे आदरे मारा लाल॥
वांचे श्री देवचन्द्रजी पासे, भगवती मारा लाल।
सर्व आगमनी आज्ञा दीधी, देवचन्द्रजी मारा लाल॥
जाणी योग्य तथा गुणगणना, वृन्दजी मारा लाल।

(जै० रा० मा० श्री उत्तमविजय निर्वाण रास पृष्ठ १६३)

तपा गच्छ में पद्मविजयजी की विद्वत्ता की प्रतिष्ठा बहुत अधिक है। वे पचपन हजार गाथा के रचयिता तरीके प्रसिद्ध हैं। उन्होंने उपरोक्त उत्तम-विजयजी निर्वाण रास बनाया है।

---

१. देखो प्रवचन परीक्षा, इर्यापथिकी षट् त्रिंशिका। हमें खेद है कि महान आचार्य श्री विजयदान सूरिजी व श्री हीर विजयसूरिजी, ने जिनको अप्रमाणिक ठहराकर जलशरण कराये थे तथा सात बोल और उसके पीछे १२ बोल निकाले थे। उन्हीं वस्तुओं का प्राचीनता के नाम पर मुद्रण हुआ है।

२. श्री० दे० जी पृ० २९

श्री विवेक विजयजी ने भी श्रीमद् के पास अभ्यास किया था। देवविलास की रचना करने वाले कवियण कहते हैं:—

'तपगच्छ' मांहे विनीत विचक्षण, श्री 'विवेकविजय' मुनीन्द्र।
भणावा उद्यम करता विनयी घणु, उद्यमे भणावे देवचन्द्र॥
गुरु सदृश मन जाणे 'विवेकजी' खिजमत में निसदिन्न।
विनयादिक गुण श्रीगुरु देखी ने, 'विवेकजी' उपर मन्न॥

सं० १७७६ का चतुर्मास खंभात में किया। श्रीमद् शत्रुंजय तीर्थ का महात्म्य बताते हुए वहां की व्यवस्था के लिए एक पैढ़ी स्थापित करने की आवश्यकता बतलाई और उनके उपदेशानुसार वहां एक पैढ़ी[1] की स्थापना हुई कवियण कहते हैं:—

कांकरे कांकरे साधु सिद्ध थया, भरते कियो रे उद्धार।
'कर्माशा' आदे देइ जाणिए, सोल उद्धार उदार॥
तीर्थ महात्म्यनी प्ररुपणा गुरुतणी, सांभले श्रावक जन्न।
सिद्धाचल उपर नवनवा चैत्यनो, जीर्णोद्धार करे सुदिन्न॥
कारखानो तिहां सिद्धाचल उपरे, मंडाव्यो महाजन्न।
द्रव्य खरचाये अगणित गिरि उपरे, उलसित थयोरे तन्न॥
सवत सतर (१७८१) एकासीये, ब्यासीये त्र्यासीये कारीगरे काम।
चित्रकार सुधानां कामते, दृषद् उज्ज्वलतारे नाम॥

यह निर्माणकार्य तीर्थराज पर कहां चला था इसके विषय में कवियण कुछ नहीं लिखते किन्तु श्री तीर्थाधिराज परके शिला लेख से मालूम होता है

१. वर्तमान में जो आनन्दजी कल्याणजी नामकी पेढ़ी है। उसका इतिहास इस प्रकार है शांतिदास सेठ के वंश में हेमा भाई हुये। इन्होंने सवा तीन लाख रुपये खर्च करके उजमबाई व नंदीश्वर टूंक बनवाई और सं० १८८६ में प्रतिष्ठा कराई। उनके पुत्र प्रेमा भाई हुये उन्होने १६०५ में शत्रुंजय का संघ निकाला व वहां मन्दिर बनवाया। (जै० सा० इ० पृ० ६७२) उन्हीं प्रेमचन्द भाई के समय में आणंदजी कल्याणजी नाम पड़ा व उसका विधान बना। सं० १८७४ में अहमदाबाद अंग्रेजों के शासन में आया था इसलिये नाम करण व विधान की आवश्यकता पड़ी होगी। उसके पहले कोई पेढ़ी अवश्य होगी जिसकी स्थापना श्रीमद् के उपदेश से हुई होगी। कवियण की प्रत्येक बात प्रमाणिक है, यह ऐतिहासिक प्रमाणों से भली भांति सिद्ध होजाता है।

कि यह कार्य खरतर वसही पर चला था।

डाक्टर बुल्हर[1] ने शत्रुंजय के ११८ लेखों पर विवेचन किया है जिसमें ३३ तो उन्होंने संस्कृत में दिए हैं तथा बाकी के अंग्रेजी में दिए हैं। उसमें नं० ३४ का लेख इस भांति है[1]। (खरतर वसही में दक्षिण तरफ की खुली जगह में सिद्ध चक्रशिला पर यह लेख है) "सं० १७८३ माघ सुदी ५ सिद्ध चक्र' धणपुर के रहने वाले श्रीमाली लघुशाखा के खेता की स्त्री आणंद-बाई ने अर्पण की (बनाई) वृहत् खरतर गच्छ की मुख्य शाखा में जिनचन्द्र-सूरिजी हुए जिनको अकबर बादशाह ने युग प्रधान पद दिया था। उनके शिष्य महोपाध्याय राजसागरजी[2] हुए, उनके शिष्य महोपाध्याय ज्ञानधर्मजी, उनके शिष्य उपाध्याय दीपचन्द्रजी, उनके शिष्य पंडितवर देवचन्द्रजी ने प्रतिष्ठा की।"

सं० १७५७ में श्री देवचन्द्रजी अहमदाबाद पधारे थे और वहां [3]नागोरी सराय में विराजे थे। उन दिनों वहां श्री माणिकलालजी नामक सम्पन्न श्रावक रहते थे। स्थानक वासियों के उपदेश से उनकी मूर्ति पूजा की श्रद्धा क्षीण होगई थी। श्री देवचन्द्रजी के उपदेश से वह फिर सजग हुई और उन्होंने जिन चैत्यालय बनाया जिसकी प्रतिष्ठा सं० १७८४ में हुई। यह

---

१. श्री जिनविजयजी ने भी प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग दूसरे में यह वर्णन किया है तथा मोहनलाल दलीचन्दजी देसाई ने श्रीमद् के जीवन चरित्र के वक्तव्य पृ० ६ में लिखा है।

२. इस लेख में पूरी परम्परा के नाम नहीं दिए गए हैं। पूरी परम्परा के नाम वर्तमान चौवीसी के अन्त में कलश रूप स्तवन के बालावबोध व ज्ञान मंजरी टीका में दिये गये है, वह इस भ ति है:—

'अकबर प्रतिबोधक जिनचन्द्र सूरिजी के शिष्य पुण्य प्रधानजी थे।' (बीकानेर के आदिनाथ मंदिर प्रशस्ति में आपका नाम है सं० १६७७ जेठ वदी ५ मेरता के शिला लेख में भी आपका नाम आता है। युग प्रधान जिनचन्द्र सूरि पृष्ठ १८६) आपके सुमति सागरोपाध्याय, उनके शिष्य साधू रंगजी तथा उनके शिष्य राजसागरजी हुए जिनका वर्णन इस लेख में आता है। उनके शिष्य महोपाध्याय ज्ञानधर्मजी उनके शिष्य उपाध्याय दीपचन्द्रजी हुए।

३. श्री यशोविजयजी जब काशी से अध्ययन करके पधारे थे तब इसही सराय में ठहरे थे। यहां उस समय लल्लू भाई रायजी का छात्रावास था।

मंदिर हाजा पटेल की पोल में आए हुए शांति नाथजी की पोल में है। श्री सहस्रफणा के नीचे का लेख इस भांति दिया है[1]:—

"संवत १७८४ वर्षे मार्गशीर वदि ५ दिन सहस्रफणा थी मंडित श्री श्री पार्श्वनाथ परमेश्वर बिंब कारितं उक्केश वंशे साह प्रतापथा भार्या प्रतमदे पुत्र शा० ठाकरशी केन आणंदबाई भगनी भवर युतेन बृहत खरतर गच्छे भट्टारक श्री युग प्रधान, श्री जिनचन्द्रसूरि, शिष्याणां महोपाध्याय श्री………… शिष्य उपाध्याय श्री देवचन्द्र गणि शिष्य युतेः"

सूरत के श्री संघ का अत्यन्त आग्रह होने से सं० १७८४ का चतुर्मास सूरत का किया। विविध स्थलों पर विहार करते हुए सं० ८५-८६ व ८७ में शत्रुंजय और पालीताणे में वधुशाह कारित चैत्यों की प्रतिष्ठा की। खरतर वसही में पांच पांडव देवालय की मुख्यमूर्ति की दाहिनी तरफ वाली मूर्ति की वेदी पर यह लेख है।[2] (डा० व्हूलर ने इस लेख का नम्बर ३५ दिया है)

'सम्वत १७८८ माघ सुदी ६ शुक्रवार खरतर गच्छ के सा (हु) कीका के पुत्र दुलीचंद ने भीम मुनि की एक प्रतिमा अर्पण की। उपाध्याय दीपचन्द्र गणि ने प्रतिष्ठा की'। उसही मंदिर की मुख्य मूर्ति की वेदी पर 'सं० १७८८ माघ सुदी ६ शुक्रवार खरतर गच्छ के साहु कीका के पुत्र दुलीचंद्रजी ने श्री युधिष्ठर मुनि की प्रतिमा अर्पण की, उपाध्याय दीपचन्द्र गणि ने प्रतिष्ठा की' ([3] डा० व्हूलर ने इस लेख का नं० ३६ रखा है)।

---

१. श्री पादराकरजी द्वारालिखित श्रीमद् का जीवन चरित्र पृ० ३१

२. जिन विजयजी कृ० प्रा० जैन लेख संग्रह भाग २ अवलोकन पृ० ५१

३. प्रा० जै० ले० पृ० ५१
व्हूलर ने श्री दीपचन्द्रजी की प्रतिष्ठा के ये दो ही शिला लेख दिए हैं, पर उन्होंने अनेक जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराई थी। जैसा कि श्रीमद् ने चोबीसी के अन्त में कलश रूप २५वें स्तवन के टब्बे में कहा है कि उन्होंने शिवासोमाजी कृत चौमुख की टोंक में अनेक बिंबों की प्रतिष्ठा की, पांच पाण्डवों की मूर्ति की, समवसरण चैत्य तथा कुंथुनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा की। जिन विजयजी प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग २ पृ० ६७ में लिखते हैं कि:—"इन लेखों के सिवाय बहुत से ऐसे लेख हैं, जो अभी तक नहीं लिए गए किन्तु वे सब छोटे २ हैं, तथा बहुत से तो खंडित व अपूर्ण हैं। शत्रुंजय पर प्रायः सब ही प्रभावशाली श्रावकों का मंदिर बनवाने का उल्लेख ग्रंथों में मिलता है, परन्तु उनका नाम निशान भी आज दिखता

उपरोक्त लेखों के अतिरिक्त श्री मोहनलालजी दलीचंदजी देसाई B.A.L.L.B. को मुनि श्री कल्याण विजयजी ने एक लेख भेजा था जिसका वर्णन देसाई महोदय ने श्रीमद् देवचन्द्रजी के जीवन चरित्र की भूमिका के पृ० ७ में किया है, यह लेख चौमुख की टोंक में मंदिर में जाते हुए बायें तरफ सिद्ध चक्र की स्थापना में है।

नहीं। विमल मंत्री, राजा कुमारपाल, तथा महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल आदि ने पुष्कल धन खर्च करके इस पर्वत पर प्रासाद बनवाए थे, यह उनके चरित्र से स्पष्ट है परन्तु वह मंदिर मौजूद हैं या नहीं ? हैं तो कहां हैं ? यह पहिचान कठिन है। वस्तुपाल, तेजपाल ने अपने प्रत्येक जगह बनवाये मंदिरों में लेख खुदवाये हैं। इससे शत्रुंजय पर भी उन्होंने जरूर लेख खुदाये होंगे, परन्तु आज उसका अस्तित्व नहीं दिखता'।"

श्री शत्रुंजय तीर्थ अत्यंत प्राचीन है किन्तु व्हुलर के लेखों में १५८७ के पहिले का कोई लेख नहीं है। 'गायक वाड़ ओरिअंटल सीरीज में प्रगट होने वाले प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में मूल टोंक की चार मूर्तियों के लेख प्रकाशित हुए थे। वे भीं सं० १३७१ में समराशाह ने १५वां उद्धार कराया इस संबंधी हैं। उससे प्राचीन कोई लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ हैं'। (जैं० लैं० स० पृ० ४६) जिनके लिए श्री जिन विजयजी प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग २ अवलोकन पृ० २ में लिखते हैं:—

"शत्रुंजय पर्वत जैन धर्म में सबसे बड़ा तीर्थ माना जाता है। उस पर सैंकड़ों जिन मंदिर व हजारों जिन प्रतिमायें हैं। तीर्थ की महत्ता व प्राचीनता देखते हुए जितने शिला लेख मिलने चाहिए उतने नहीं मिलते इसके अनेक कारण हैं। उनमें सबसे बड़ा कारण यह है कि मंदिरों में जो बार बार काम होता था, वह पहले के युग में ऐतिहासिक वृत्तान्त की तरफ लोगों का विशेष लक्ष न होने से, मंदिरों के पुनरुद्धार करते समय उसकी प्राचीनता कायम रखने के लिए बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता था। इससे शिला लेखों को उखाड़कर औंधे सोंधे डाल दिये जाते थे अथवा अयोग्य रीति से भीतों में चुनादिये जाते थे। कितनेक स्थानों पर कली चूना या सीमेंट आदि भी ऐसे शिला पट्टों पर लगे हुए देखने में आए हैं"।

"कर्नलटाड के कथनानुसार, एक दूसरे गच्छने भी आपसी ईर्षा और असहिष्णुता के कारण से, ऐसे शिलालेखों को नष्ट करने में बड़ा भाग लिया है। ऐसे अनेक कारणों से शत्रुंजय पर अत्यंत प्राचीन व महत्व के शिलालेखों का अस्तित्व नहीं रहा"।

"संवत् १७८४ वर्षे मिगशिर वदि ५ तिथी राजनगर वास्तव्य श्री सिद्ध-चक्र कारापितं च श्री महावीरदेवाविच्छिन्न परंपरायत श्री बृहत्खरतरगच्छाधि-राज श्री अकब्बरसाहि प्रतिबोधक तत्प्रदत्त युगप्रधान भट्टारक श्री जिनचंद्रसूरि शाखायां महोपाध्याय श्री श्री राजसागरजी तत् शिष्य उपाध्याय ज्ञानधर्मजी तत् शिष्य उपाध्याय श्री दीपचंद्रजी तत् शिष्य पंडित देवचंद्र युतेन"।

"बम्बई सरकार के आर्किओलाजीकलसर्वे की तरफ से मि० काउसेन्सने (Cousens) ई० स० १८८८–८९ में इस पर्वत पर के सब लेखों की नकल ली थी। इन लेखों में उसे ११८ लेख उपयोगी लगे, इससे उसने अपीग्राफीयाइन्डिका (Epigraphia Indica) में प्रकाशित कराए। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० जी बुल्हर (Dr. G. Buhler) को उसका सम्पादन कार्य सम्हलाया। उन्होंने निरीक्षण करके अपीग्राफीग्रा इन्डिका के दूसरे भाग के छटे प्रकरण में अपने वक्तव्य के साथ यह लेख प्रगट किए हैं"।

श्री जिन विजयजी ने ११५ की टिप्पणी लिखी हैं जिससे सूचित होता है। ३२ प्रतिष्ठायें खरतर गच्छाचार्यों द्वारा, ३३ तपा गच्छीयों द्वारा, ११ अंचल गच्छ की, १० सागर गच्छ की १ लघु पोशाल गच्छ की ४ आनंद-सूरि गच्छ की १ पायचं दगच्छ की, नं. १-२-३ अनेक मुनियों द्वारा, नं० ४० सर्वसूरियों द्वारा जिनमें गच्छ का नाम नहीं है ऐसे १९ लेख हैं।

"वर्तमान में जो मुख्य मंदिर दिखाई देता है वह कुमारपाल के मंत्री उदयान के पुत्र बाहड़ (वाग्भट श्रीमाल) द्वारा बनवाया हुआ है। काठिया-वाड़ के किसी मांडलिक शत्रु को जीतने को कुमारपाल ने महामात्य उदयान को भेजा था। मंत्री यात्रार्थ गया तब मंदिर काठ का बना हुआ था, युद्ध से लौटने पर पत्थर का मंदिर बनवाने का निश्चय कर मन्त्री अपनी सेना में आ मिला। युद्ध में विजयी हुआ। पर गहरे घाव लगने से स्वर्ग पधारा। वाहड़ और अम्बड ने अपने पिता की इच्छापूर्ति की। सम्वत १२११ में हेमचन्द्रजी द्वारा प्रतिष्ठा कराई, उसमें एक करोड़ साठ लाख रुपये खर्च हुए थे।" (श्री जिन विजयजी का शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबंध का उपोद्‌घात पृ० २८)

अलाउद्दीन ने सं० १३६९ में शत्रुंजय पर्वताधिराज आदीश्वरजी की प्रतिमा का भंग किया था। (जैन साहित्य का इतिहास पृ० ४२५। जिन प्रभसूरि कृत शत्रुंजय कल्प रचना सं०१३८५) इसमें १३६९ के आसपास आबू के मन्दिर को भी नुकसान पहुँचायो था।

सं० १७८८ आषाढ़ सुदी २ को श्रीमद् के गुरु दीपचंदजी स्वर्ग सिधारे।

उस समय अहमदाबाद के सूबेदार रत्नसिंहजी भंडारी थे।[1] श्री रत्नसिंहजी भंडारी के मित्र आणंदरामजी श्रीमद् का सत्संग किया करते थे। उन्होंने अपने मित्र भण्डारीजी से श्रीमद् की अत्यन्त प्रसंशा की इस पर श्री रत्नसिंहजी भण्डारी श्रीमद् के गुणों से आकर्षित होकर श्रीमद् के सत्संग का लाभ उठाने लगे। अहमदाबाद में उस समय महामारी का उपद्रव होगया

'पाटण निवासी समरसिंहजी गुजरात के सूबेदार अलफखान की सेवा में उच्च अधिकारी थे। वे बड़े प्रभावशाली व सम्पन्न थे। उन्होंने अलफखान से शत्रुंजय का फरमान लेकर सं०१३७१ में अपने पिता देसल को संघपति बनाकर संघ निकाला और उपकेश गच्छ के सिद्धसूरि द्वारा आदीश्वरजी की प्रतिष्ठा कराई। पीछे के लेखकों ने रत्नाकरसूरि द्वारा प्रतिष्ठा का लिखा है। इन सूरिजी का अन्य प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करना संभव हो सकता है।' (जैन साहित्य का इतिहास पृ० ४२५-२६; जिन प्रभसूरिकृत विविध कल्प में शत्रुंजय कल्प)

समरेशाह द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा को मुसलमानों द्वारा नुकसान पहुँचाया गया। तब 'चित्तौड़ निवासी कर्माशाह ने सं० १५८७ बै० वदि ६ रविवार के दिन अनेक संघ और अनेक मुनि आचार्य के सम्मेलन पूर्वक, कल्याणकारक प्रतिष्ठा कराई।' (प्रा० जै० ले० संग्रह अवलोकन पृ० १९)

इसके पीछे अहमदाबाद निवासी शिवाजी के भाई सोमाजी के पुत्र रूपजी ने सं० १६७५ में खरतर गच्छाचार्य श्री जिनराज सूरि द्वारा ५०१ जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराई। यह खरतर वसही शत्रुंजय पर्वत पर सबसे ऊँची है इसमें ५८ लाख रुपये खर्च हुये थे। चौरासी हजार के तो केवल रस्से खर्च हुये थे। मंदिर बनवाने का कार्य शिवाजी सोमाजी ने प्रारंभ किया था, पर उनकी मृत्यु होजाने से प्रतिष्ठा कार्य उनके पुत्र रूपजी ने सम्पन्न किया था। (जै० ले० सं० भाग २ पृ० ३६)

१. श्री रत्नसिंहजी भण्डारी ओसवाल जाति के एक नर रत्न थे। जोधपुर महाराज अभयसिंहजी के यह अत्यन्त विश्वास पात्र सेनानी थे। संवत १७८६ में बादशाह मुहम्मदशाह ने गुजरात के सूबेदार सरबुलंद खां के विद्रोह को दबाने के लिये अभयसिंहजी को भेजा था, श्री रत्नसिंहजी भी इनके साथ थे। अभयसिंहजी ने गुजरात प्रान्त पर अधिकार करके सरबुलंद खां को जीता पकड़ कर दिल्ली भेज दिया। अभयसिंहजी दिल्ली गये और नायब सूबेदार तरीके रत्नसिंहजी को गुजरात में छोड़ गये। श्री रत्नसिंहजी सं० १७८९ से १७९३ तक गुजरात

था। रत्नसिंहजी भंडारी तथा वहाँ के महाजनों की बिनती से गुरु श्री ने अपनी आत्म शक्ति से श्रीमारी के उपद्रव को शमन किया।

एक बड़ी सेना के साथ [1] रणकूजी ने आक्रमण किया। अपनी अल्प सैन्य शक्ति देख कर रत्नसिंहजी को बड़ी चिन्ता हुई, उन्होंने श्रीमद् से अर्ज किया। श्रीमद् ने उन्हें धैर्य बंधाते हुए कहा कि न्याय का पक्ष लेने वालों की सदा विजय होती है। श्री रणकूजी के संग युद्ध करके श्री रत्नसिंहजी भंडारी विजयी हुए।

चतुर्मास पूर्ण होने पर गुरुजी धोलका पधारे; धोलका वासी जयचंदजी पुरुषोत्तम नामक योगी को गुरुजी के पास लाये। श्रीमद् के उपदेश से वह जिन धर्म का रागी होगया।

सं० ६५ में पालीताणी पधारे। कवियण की इस बात की पुष्टि वहां के एक शिलालेख से भी होती है।

संवत १७६४ (गुजराती) शक १६५६ असाढ़ सुदी १० रविवार (राजस्थानी[2] संवत् १७६५) "[3]ओसवंश वृद्ध शाखा नाडुल गोत्र के भंडारी

में महाराज अभयसिंहजी के प्रतिनिधि तरीके सूबेदार रहे। बा० उमरावसिंहजी टांक द्वारा लिखित Some distinguished Jains. पृ० ६० से ६६।

रत्नसिंहजी ने विमलवशी में हाथी पोल जाते हुए दाहिनी तरफ के देवालय में पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी। बुल्हर ने एपीग्राफीआ इण्डिका में इस लेख का नं० ३८ दिया है। लेख इस भांति है:—

'संवत १७६१ वैसाख सुदी (पुष्यार्क पार्श्वनाथ की प्रतिमा ओसवाल वृद्ध शाखा नाडूल गोत्रना भंडारी दीपाजी के पुत्र खेतासी जी के पुत्र उदयकर्ण (व उदयवंती देवी) के पुत्र भंडारी रत्नसिंह महामंत्री, जिसने गुजरात में अमारी ढिंढोरा पटवाया, उसने अर्पण करी, (बनाई) तपागच्छ के विजयक्षमा सूरि के अनुज विजयदया सूरि के विजय राज्य में प्रतिष्ठा हुई।

१. यह रणकूजी, मराठा सरदार दामजी के सेनानी थे। इनका आक्रमण सं० १७६३ में हुआ था। यह धोलका तक आपहुँचे थे। भंडारीजी ने इन्हें परास्त कर दिया था। इन्होंने भाग कर वीरमगाम में आश्रय लिया। भंडारीजी ने वहां भी इनका पीछा करके इन्हे परास्त कर दिया। (देखो बा० उमरावसिंहजी कृत Some distinguished Jains. पृ० ६४, कवियण का देव विलास कितना प्रामाणिक है, यह प्रत्येक बात से सिद्ध होता है।

२. कवियण ने राजस्थानी संवत दिये हैं।

३. बूल्हर ने इस लेख का नं० ३६ दिया है। छीपावसी में एक देवालय के बाहर यह लेख है।

भीनाजी के पुत्र भंडारी नारायणजी के पुत्र भंडारी ताराचंदजी के पुत्र भंडारी रूपचन्दजी के पुत्र भंडारी शिवचन्द के पुत्र हरखचन्द ने इस देवालय का जीर्णोद्धार कराया और पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा अर्पण करी। बृहत खरतर गच्छ के जिनचन्दसूरि के विजय राज्य में महोपाध्याय राजसागरजी के शिष्य उपाध्याय दीपचन्दजी के शिष्य पंडित देवचन्द्र ने प्रतिष्ठा करी"।

संवत् ९६–९७ में नवानगर में रहे। यहीं पर काती सुदी १ सं० १७९६ में विचार सार ग्रन्थ प्राकृत में बनाया तथा उ० श्री यशोविजयजी के महान अनुभव पूर्ण ग्रंथ ज्ञानसार पर भी यहीं 'ज्ञानमंजरी' टीका लिखी थी। जिन मंदिरों की पूजा अर्चना को जो उस समय बंद होगई थी, पुनः चालू कराया।

"नवानगरे चैत्य जे मोटा ढुँढके जे हता लोप्यारे।
अर्चा पूजा निवारण कीधी ते सघला फिरी थाप्यारे॥" देव विलास॥

आपका उपदेश सुनकर पडधरी का ठाकुर आपका परम भक्त होगया था।

"पुनरपि पालीताणे गुरु, पुनरपि नूतन नग्रमांहि।" देव विलास॥

इस से सिद्ध होता है कि सं० १७९८ से सं० १८०१ तक गुरुदेव पालीताणे व नवानगर के बीच विहार करते रहे। श्रीमद् की शत्रुंजय तीर्थ पर अगाध भक्ति थी, इसलिये वे अनेक बार यहां पधारे थे और अनेक जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की थी? इसही लिये शत्रुंजय पर विस्तार से लिखा है।

सं० १८०२ और १८०३ में नवानगर के पास राणावाव गांव में रहे। वहां के ठाकुर को भगंदर का भयानक रोग था। गुरु कृपा से वह आत्म ध्यान में मग्न रहने लगा। इस भांति उसकी पीडा शांत होगई। गुरुजी पर उसकी श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ने लगी। उसकी प्रार्थना पर गुरुदेव अनेक बार वहां पधारे थे।

सं० १८०४ में आप भावनगर पधारे उस समय वहां के राजा भावसिंह थे। श्रीमद् का उपदेश सुनकर वह इनके परम भक्त होगये[1]।

इसी संवत् १८०४ में श्रीमाली शाह कचरा कीका ने सूरत से एक संघ निकाला था जिस का वर्णन श्रीमद् ने स्वयं श्री सिद्धाचल स्तवन में किया है:—

---

१. श्री देसाईजी ने श्री देवचंद्रजी की जीवनी में वक्तव्य पृ० ११ में लिखा है। इन भावसिंहजी ने अपने नाम पर सं० १७७९ वैसाख सुदी ३ को भावनगर बसाया था। उन्होंने ६१ वर्ष तक स्वतंत्ररूप से राज्य किया था।

[1]संवत अढार चीडोत्तर वरसे सित मृगसर तेरसीये ।
श्री सुरत थी भक्ति हरख थी संघ सहित उल्लसीये ॥६॥
कचरा कीका जिनवर भक्ति, रूपचंद (गुणवंत) जीहद ।
श्री संघने प्रभुजी भेटाव्या, जगपति प्रथम जिणंद ॥७॥

श्री कवियण ने सं० १८१० में संघ निकालने का वर्णन किया है इस पर श्री मोहनलाल हेमचंद वकील पादरा वाले कहते हैं कि "[2] कचर कीकाने पालीताणा के बहुत बार संघ निकाले थे ऐसा बहुत से स्तवन और चरित्रों से प्रकट होता है । इसमें संवत १८०४ व १८१० में श्रीमद् संघ के साथ पधारे हों ऐसा लगता है । संवत १८०५ व १८०६ में श्रीमद् लींमडी गांव में पधारे थे । यहां शाह डेसा बोहरा, शाह धारसी तथा जयचंद को गुरु ने शास्त्राभ्यास कराया था। लींमडी, ध्रांगध्रा और चूडा में जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की । ध्रांगध्रा में [3]श्री सुखानंदजी से इनका मिलाप हुआ । श्री सुखानंदजी आध्यात्मिक पुरुष थे इसलिये श्रीमद् उनसे बहुत धर्म स्नेह रखते थे ।

प्रभंजना सज्झाय तथा अध्यात्म गीता श्रीमद् ने लींमडी में बनाई थी किन्तु संवत का उल्लेख न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसे संवत में बनाई थी । कवियण के अनुसार सं० १८०५-१८०६ में श्रीमद् वहां विराजे

---

१. संवत् १८०४ वाले संघ का वर्णन करते हुए श्री देसाई लिखते है;-"इस संघ का भावनगर के संघ पति कुंवर जी सेठ ने बहुत आदर किया था । कचरा शाह ने भावनगर के राजा से प्रार्थना की कि वह भी संघ में पधारें । राजा ने उसके लिये चोकीदारी वगैरह का खर्च मांगा, कचराशाह ने दस्तूर माफिक देना स्वीकार किया और राजा अपनी सेना को साथ ले संघ के साथ हो लिये । संघ में श्रीमद् देवचंद्र जी, उत्तम विजय जी और योगविमल जी थे । पालीताणा के राजा पृथ्वीराज जी के पुत्र संघ की अगवानी के लिये सन्मुख आये । संघवी जी ने उनकी पहरावणी की । इस संघ में अंचल गच्छ के उदयसागर सूरि भी थे । इस संघ में सम्मिलित होने के लिये खंभात से जीवनशाह संघवी संघ लेकर आये थे । पाटण से रामचंद्र शाह, दक्षिण से मैसूर गांव का संघ लेकर गलालसा आये थे । इस प्रकार अनेक संघ व संघपति इसमें सम्मिलित हुए थे । इस समय पालीताणे में मरकी का रोग फैला हुआ था । श्रीमद् के तपोबल से वह शान्त हो गया ।

२. श्री. दे. जी का वक्तव्य पृ. १२ ।

३. इनके दो पद योगीराज आनंदघन जी के नाम भी चढ़ गये हैं । इन पदों का नम्बर ८१ व ८२ है ।

थे। [1]शांतिनाथ जिन स्तवन के अनुसार सं० १८०७ में श्री श्रीमद् लींमडी पधारे थे। इस स्तवन में वे स्वयं कहते हैं:—

संवत अठारसे साते वरसे फागुण सुदी बीज दिवसेरे।
श्री शांति जिणेसर हरषे थाप्या, बहुमुनि शिव सुख वरसे रे ।।३।।

आपके उपदेश से सं० १८०८ में गुजरात से संघ निकाला था।

संवत् अठारने आठमें गुजराति थी काढ्यो संघ।
श्री गुरुना गुरु उपदेश थी, शत्रुंजय नो अभंग ।। देव विलास

संवत् १८०९ व १० में गुजरात के अनेक गांवों में विहार करते रहे। सवत् १८१० में सेठ कचरा कीका ने जो संघ निकाला था उसमें श्रीमद् भी पधारे थे।

संवत दश अष्टादशे कचरा साहजीइं संघ।
श्री शत्रुंजय तीर्थनो, साथे पधार्या देवचंद्र ।।४।। देव विलास

इस संघ निकालने की पुष्टि नीचे लिखे शिलालेख से भी होती है[2]:—

"सं० १८१० माघ सुदी १३ मंगलवार संघवी कचरा कीका वगैरह समस्त परिवार ने सुमतिनाथ प्रतिमा अर्पण करी, सर्व सूरियों ने प्रतिष्ठा करी।" विमल वसही में हाथीपोल की तरफ जाते हुए दाहिने ओर के एक देवालय में यह लेख[3] है।

संवत् १८११ में लींमडी पधार कर प्रतिष्ठा कराई। राजनगर में गच्छ नायक[4]ने इन्हें बहुमान पूर्वक 'वाचक' पद दिया। श्रीमद् दोसीवाडा की पोल में ठहरे हुए थे। एक दिन वायु प्रकोप से वमनादिक व्याधि हुई, ६५ वर्ष की आयु में आत्मजागृति पूर्वक प्रसन्न मुख गुजराती सं० १८११ राजस्थानी १८१२ की भादवा वुदी १५ को इस आत्म ज्ञानी संत ने इस नश्वर शरीर को त्याग दिया।

मोटे आडंबरे मांडवी, चोरासी गच्छना हो श्रावक मल्या वृन्द।
अगरचंदने काष्टे भली, चिता रचिता हो महाजन सुखकंद ।।देव विलास।।

---

१. यह स्तवन श्री नाहटाजी ने बीकानेर से प्रकाशित हुई 'बीसी' के अंत में दिया है।
२. प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग २ में पृ० ५२; ऐपीग्राफिया इंडिका लेख नं० ४०
३. वहीं फुट नोट नं० ७
४. उस समय 'जिनलाभसूरिजी' का शासन समय था।

महाजन शिष्य समुदाय भेला थइरे, स्तूप कराव्यो गुलतगो ।
प्रतिष्ठा करि तत्र पादुकारे, पूजा प्रभावना बहु विधि ॥देव विलास॥

इस पादुका की खोज शोध में श्रीमणिभाई पादराकरजी ने बहु प्रयत्न किया किन्तु प्राप्त नहीं हुई[1] थी किन्तु फिर इसकी प्राप्ति के समाचा श्रीमद् देवचंद्रजी के द्वितीय संस्करण में मिलते है[2] ।

अहमदाबाद के हरीपुरे के मंदिर के मुख्य द्वार के सामने उपाश्रय मकान की एक देरी में उनकी पादुका स्थापन की हुई है । उसपर यह लेख है:

"श्री जिनचन्द्रसूरि शाखायां श्री खरतर गच्छे संवत् १८१२ वर्षे मा बदी ६ दिने उपाध्याय श्री दीपचंद्रजी शिष्य उपाध्याय श्री देवचंद्रजीनां पादु प्रतिष्ठिते" ।

श्री देवचंद्रजी के मनरूपजी व विजयचंद्रजी ये दो विद्वान शिष्य थे श्रीमद् ने अंतिम समय जो शिष्यों को उपदेश दिया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है

पग प्रमाणे सोडि ताणज्यो, श्री संघनी हो धारज्यो तमे आण ।
वहिज्यो सूरिजी नी आज्ञा, सूत्र शास्त्रे हो तुमे धरज्यो ज्ञान ॥देव विलास॥

यदि आजका साधु समुदाय श्रीमद् के इस अन्तिम उपदेश को भी हृदय पटल पर अङ्कित करके व्यवहार रूप प्रदान करता तो क्या आज सैद्धान्तिक दुहाइयों की ओट में तिथि चर्चा आदि में विवाद उपस्थित होता ! यदि अनेकान्तवादी एक साधारण सी समस्या भी न सुलझा सके तो यह अनेकान्त केवल मौखिक ही सिद्ध होगा ।

॥ श्रीमद् की रचनायें ॥

श्रीमद् की रचनाये बहुत हैं । ध्यानदीपिका चतुष्पदी, द्रव्यप्रकाश, आगमसार, विचारसार तथा ज्ञानमंजरी के संबंध में तो तिथि क्रम में पहिले लिखा जाचुका है । यहां पहिले भाषा गद्य ग्रंथों पर विचार किया जाता है । नयचक्रसार के विषय में श्रीमद् लिखते हैं:—

१. द्वादशार नयचक्र छे, मल्लवादि कृत बद्ध ।
सप्तशति नयवाचना, कीधी तिहां प्रसिद्ध ॥
अल्प मतिना चित्त में नावे ते विस्तार ।
मुख्य थूल नय भेदनो, भाष्यो अल्प विचार ॥

---

१. दे० औ० च० पृ० ४८–५०
२. 'श्रीमद् देवचंद्र' के द्वितीय संस्करण का अंतिम पृष्ठ ।

२. गुरु गुण छत्रीसी:—इसमें कुल ४० श्लोक हैं। पहले श्लोक में वीर प्रभु की स्तुति की गई है, ३६ श्लोकों में प्रत्येक श्लोक में आचार्य के ३६ गुण कहे हैं, इस पर टब्बा भी श्रीमद् ने ही किया है। इस भांति १२९६ गुणों का कथन किया गया है फिर तीन श्लोकों में ग्रंथ का उपसंहार है।

३. श्री देवेन्द्रसूरि के ५ प्राकृतकर्म ग्रन्थों का टब्बा लिखा है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

४. कर्म संवेध प्रकरण:—यह प्राकृत में है कर्म ग्रन्थ के निकट का संबंध होने के कारण इसे कर्म ग्रंथ के साथ ही दिया गया है, किन्तु इसका रचना काल पहले का लगता है क्योंकि इसमें श्रीमद् ने अपने गुरु का नाम 'राजहंस' जी कहा है जोकि श्री दीपचंद्रजी का दीक्षा नाम है जिसका कि प्रयोग प्रारंभ की रचनाओं में ही हुआ है।

५. विचार रत्नसार:—प्रश्नोत्तर रूप में ४२२ गहन व जटिल प्रश्नों का इसमें खुलासा किया गया है। जिज्ञासु के रूप में स्वयं ही प्रश्न करते गये हैं और गम्भीरता पूर्वक खुद ने ही उत्तर दिये हैं। श्री मोहनलाल दलीचंद्रजी देसाई कहते हैं कि 'इस ग्रन्थ में दूसरे का हस्त प्रक्षेप हुआ हो' ऐसा एक प्रबल प्रमाण मिल गया है। प्रश्न २७४ के उत्तर के अन्त में जो यह पद कहा गया है:—

"विषय वासना त्यागो चेतन, साचे मारग लागोरे।
जप तप क्रिया दानादिक सहु, गिणती एक न आवे रे॥
इन्द्रिय सुख में ज्यों लो ए मन, वक्र तुरग ज्यूँ धावेरे।"

यह काव्य श्री चिदानंदजी का है जो श्रीमद् के बहुत पीछे हुए हैं।

६. छूटक प्रश्नोत्तर:—राधनपुर आदि के श्रावकों के प्रश्नों का उत्तर है।

७. तीन पत्र:—सूरत की श्राविका जानकीबाई तथा हरकबाई को लिखे हैं।

श्रीमद् देवचन्द्र स्तवनावली जो कि कलकत्ता से सं० २०१२ में प्रकाशित हुई थी उसकी प्रस्तावना में श्री नाहटा ने कहा है कि "दंडक बालाव बोध की नकल हमारे संग्रह में है तथा सप्त स्मरण का टब्बा कुछ वर्ष पहले हमने एक संग्रह में देखा था किन्तु खेद है कि वह संग्रह अब बिक चुका है। शांतरस नामक गद्य के कर्त्ता भी एक कृति के अनुसार श्रीमद् हैं किन्तु अन्य प्रतियों में इसका निर्देश न होने से यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है।

॥ पद्य रचनाएं ॥

१. अध्यात्मगीता:—इसका भी वर्णन पहिले थोड़ा आ चुका है यह अध्यात्म विषय का अद्भुत ग्रन्थ है इसकी स्वर्णाचरी भी मिलती है। इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थ पर लोगों की कितनी भक्ति थी। इस पर ज्ञानसारजी महाराज ने बालावबोध रचा है। श्री मणिभाई पादराकर लिखते हैं कि 'अध्यात्म गीता पर श्री कुंवरविजय जी (अमीकुंवर जी) का टब्बा है, एक टब्बा सूरत भण्डार में है। एक टब्बा प्रथम संस्करण भाग दूसरे में छपा है, कर्त्ता का नाम मालूम नहीं होता; दूसरे संस्करण में यह टब्बा नहीं दिया गया है, इससे प्रगट होता है कि श्रीमद् का तो नहीं है।

२. स्नात्र पूजा:—पहले लिखा जा चुका है कि श्रीमद् जब गर्भ में थे तब ही माता जी ने इन्द्रों के द्वारा जिन प्रतिमा का उत्सव होते देखा था। इससे इनकी बनाई स्नात्र पूजा अत्यन्त भाव पूर्ण है। इससे पहले श्रावक कवि देपाल ने स्नात्र पूजा रची थी जिसमें बच्छ भण्डारी कृत पार्श्वनाथ कलश और रत्नाकर सूरिकृत आदिनाथ जन्माभिषेक कलश सम्मिलित थे। तेरहवीं सदी में अपभ्रंश में जयमंगल सूरि ने महावीर जन्माभिषेक बनाया था। सं० १६१८ में ख० साधूकीर्त्तिजी ने सतरह भेदी पूजा बनाई थी। इस भांति जन्माभिषेक, स्नात्र पूजा और सत्तरह भेदी पूजा उत्तरोत्तर भाषा साहित्य में आये। श्रीमद् की स्नात्र पूजा अत्यन्त आकर्षक व भक्तिमय है।

३. नवपदपूजा:—श्रीमद् ने श्री यशोविजय जी उपाध्याय द्वारा रचित श्रीपालरास के चौथे खण्ड में से कुछ ढालें लेकर उन पर उल्लाले लिखे हैं और ज्ञानविमल सूरिजी ने काव्य लिखे हैं। इस भांति प्रचलित नवपदपूजा इन तीनों महात्माओं की प्रसादी है। धर्मसागरजी की प्ररूपणाओं के कारण श्वेताम्बर जैनियों में जो एक दरार पड़ गई थी उसके सांधने का यह एक स्तुत्य प्रयत्न था।

४. चौवीसी:—श्रीमद् की अत्यन्त प्रिय रचना वर्तमान चौवीसी है। इस पर श्रीमद् ने स्वयं बालावबोध लिखा है। विहरमान स्तवन तथा अतीत चौवीसी भी इसी शैली से लिखी गई है।

इस पुस्तक में श्रीमद् के बालावबोध के आधार से यह अनुवाद किया गया है अतः कुछ पदों पर टिप्पणी लिखकर इस जीवनी को विस्तृत करना

---

१. जै० सा० इतिहास पृ० १०८

अनावश्यक समझता हूँ। श्री आनन्दघन जी की कविता में सहज भक्ति प्रवाहित हुई है, श्री यशोविजय की चौबीसी में प्रेम लक्षणा भक्ति की प्रधानता है। श्रीमद् देवचन्द्रजी ने दार्शनिक भूमिका पर कार्य कारण भाव से प्रभु भक्ति की तलस्पर्शी व सूक्ष्म मीमांसा की है मानो इन महापुरुषों की वाणी की शास्त्रीय व्याख्या की हो। भक्तों का कहना है कि प्रभु को कर्त्ता माने बिना भक्ति उल्लसित हो ही नहीं सकती। श्रीमद् ने भक्तों व तार्किकों का सुन्दर रीति से समन्वय किया है। नीचे लिखे पद से यह स्पष्ट होजाता है।

कारण पद कर्त्ता पणेरे, करी आरोप अभेद।
निज पद अर्थी प्रभु थकीरे, करे अनेक उमेद (अजित जिन स्तवन)

५. अतीत चौबीसी पर श्रावकवर्य मनसुखलालजी ने बालावबोध सं० १९६५ में दाहोद में बनाया है। इसमें श्रीमद् के २१ ही स्तवन थे मनसुख भाई ने तीन स्तवन स्वयं बनाकर उसमें बालावबोध लिखा है।

६. विहरमान जिन स्तवनः—इन स्तवनों का अनुवाद मनसुख भाई के सहयोगी व शिष्य श्री संतोकचन्द्रजी ने सं० १९६६ में दाहोद में किया था। इन दोनों को सं० १९६७ में सुमति प्रकाश नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। बीकानेर से ये अनुवाद पृथक २ रूप में क्रम से सं० २००६ व २००७ में प्रकाशित हुए हैं।

तत्वज्ञान के रसिक श्री आनन्दघन जी व देवचन्द्र जी की चौबीसी को कंठस्थ करते हैं। ये स्तवन स्वानुभव की नींव पर रचे गए हैं इसलिए सीधा मन पर असर करते हैं। यह सुनी सुनाई व पढ़ी पढ़ाई बात नहीं है, इनके पीछे दीर्घकाल का अनुभव है, इसलिये ये लब्धि वाक्य हैं।

श्री देसाई जी श्रीमद् के जीवन चरित्र की भूमिका पृ० १८ में लिखते हैं कि 'बीस स्तवन चौबीसी की अपेक्षा कम फिलासफी वाले हैं। इस पर मैं इस समय अपने विचार प्रकट करने की स्थिति में नहीं हूँ क्योंकि मनन किए बिना कैसे लिखा जाए? बीसी में से बाहुजिन स्तवन पर श्रीमद् ने टब्बा लिखा है तथा एक स्तवन का पंडित श्री सुखलाल जी ने अनुवाद लिखा है जो काशी से प्रकाशित हुआ है। विहरमान जिन स्तवन में चन्द्रानन जिन स्तवन के निम्न पद आत्म मलीनता व दंभ मिटाने के अमोघ साधन हैं।

तुं अजरामर आतमा, अविचल गुण खाण ।
क्षण भंगुर जड़ देहथी, तुज किहां पिछाण ॥ रे जीव०॥१६॥
ज्ञान ध्याननो वातडी, करवी आसान ।
अंत समे आपद पड्यां, विरला करे ध्यान ॥ रे जीव०॥१६॥
देह गेह भाड़ातणो, ए आपणो नाहिं ।
तुज गृह आतम ज्ञान ए, तिण मांहे समाहिं ॥ रे जीव० ॥३२॥

असंग भावना - साधु भणी गृहवासनी रे, छूटी ममता तेह ।
तो पण गच्छवासी पणे रे, गण गुरु पर छे नेह रे ॥प्राणी०॥२॥
शत्रु मित्रता सर्व थी रे, पामी वार अनन्त ।
कोण सज्जन दुश्मन कियो रे, काले सहुनो अंत रे ॥प्राणी०॥४
बांधे करम जीव एकलो रे, भोगवे पण ते एक ।
किण ऊपर किण वातनी रे, राग द्वेषनी टेक रे ॥ प्राणी०॥५॥
आव्यो पणतुं एकलो रे, जाइश पण तुं एक ।
तो ए सयल कुटुंब थी रे, प्रीत किसी अविवेक रे ॥ प्राणी०॥७
पर संजोग थी बंध छे रे, पर वियो थी मोक्ष ।
तेणे तजी पर मेलावडो रे, एक पणो निज पोष रे ॥प्राणी०॥११
जन्म न पाम्यो साथ कोरे, साथ न मरशे कोय ।
दुःख वहेंचावु को नहीं रे, क्षण भंगुर सहु लोय रे ॥प्राणी०॥१२
परिजन मरतो देखीने रे, शोक करें जन मूढ ।
अवसरे वारो आपणो रे, सहु जननी ए रूढ़ रे ॥प्राणी०॥१३॥

आत्म भावनाः—पंच पूज्यथी पूज्य ए, तु० सर्व ध्येयथी ध्येय ॥भ०॥
ध्याता ध्यान अरु ध्येय ए, तु० निश्चे एक अभेय ॥भ०॥६॥
अनुभव करतां एहनो, तु० थाए परम प्रमोद ॥भ०॥
एक रूप अभ्यास शुं तु० शिव सुख छे तसु गोद ॥भ०॥१०॥
बंध अबंध ए आतमा, तु० करता अकरता एह ॥भ०॥
एह भोगता अभोगता तु० स्याद्वाद गुण गेह ॥भ०॥११॥
एक अनेक स्वरूप ए तु० नित्य अनित्य अनाद ॥भ०॥
सदसद्भावे परिणम्या तु० मुक्त सकल उन्माद ॥भ०॥१२॥
जप तप किरिया खप थकी,तु० अष्ट करम न विलाय ॥भ०॥
ते सहु आतम ध्यान थी, तु० क्षण में खेरु थाय ॥भ०॥१३॥
शुद्ध आतम अनुभव बिना, तु० बंध हेतु शुभ चाल ।
आतम परिणामी रम्यां, तु० एहिज आश्रव पाल ॥१४॥

(११) ढंढण मुनि की सज्झाय:—यह महाराज श्री कृष्ण के पुत्र थे। एक हजार स्त्रियों को त्याग कर यह भगवान नेमिनाथ से दीक्षित हुए थे। यह मुनि आहार के लिए जाते पर शुद्ध आहार प्राप्त नहीं होता था; इस प्रकार छह मास गुजर गये किंतु मुनि के चित्त में तनिक भी दुर्बलता नहीं आई। एक दिन वासुदेव श्री कृष्ण ने प्रभु से पूछा कि सबसे बढ़कर धीर वीर साधक कौन है ? प्रभु ने ढंढण ऋषिका नाम लिया। सम्राट ने मुनि को वंदन किया, यह देख एक गृहपति ने मुनि से गौचरी के लिये प्रार्थना की। मुनि गृहपति के घर गये। उसने शुद्ध भिक्षा दी। भिक्षा लेकर मुनि प्रभु के पास गए और बोले कि आज अन्तराय टूटी है। प्रभु ने फरमाया कि यादवपति ने आपको भक्तिपूर्वक नमस्कार किया था; इस कारण आपको भिक्षा प्राप्त हुई है। मुनि विचारने लगे कि अभी पूरी अन्तराय नहीं टूटी है। साध्य अधूरा ही है ऐसी अवस्था में आहार क्यों किया जाय ? इस भांति पर परिणति त्यागते हुए, आत्म परिणति में रमण करने लगे। क्षपक श्रेणी में आरुढ़ होकर ध्यानबल से सारी अन्तराय क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन[1] पाया। अपना सम्पूर्ण साध्य सिद्ध करके समवसरण में पधारे, ऐसे मुनियों का यशोगान करने से परमानंद पद की प्राप्ति होती है।

(१२) गजसुकुमाल:—यह श्री कृष्ण के छोटे भाई थे। श्री नेमिनाथ भगवान का उपदेश सुनकर वैराग्य हो आया। माता से आज्ञा चाही, माता जी ने बहुत समझाया पर इनका तो यही प्रश्न था कि नेमिनाथ प्रभु से किस का वचन अधिक माननीय हो सकता है। अन्त में माता, पिता, भाई ने उन्हें आज्ञा दी। प्रभु के सम्मुख सर्वविरति धर्म अंगीकार करके पूछने लगे कि मुझे तो कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे जल्दी ही सिद्धि प्राप्त हो ? प्रभु ने फरमाया कि चारों ओर फैले हुये भावों को केवल आत्मा में लगाना ही शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने का अमोघ उपाय है। इधर उनके होने वाले श्वसुर ने जब यह समाचार सुने तो उसे बहुत क्रोध चढ़ा। मुनि को ढूंढ़ता हुआ, वहां पहुँचा जहां निर्जन बन में वह आत्म ध्यान में तन्मय थे।

---

१. श्रीमद् ने केवल ज्ञान के पश्चात केवल दर्शन कहा हैं, श्री जिनभद्र गणिक्षमा श्रमण इसी आगमिक सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे। श्री मल्लवादी एक ही समय में दोनों का प्रादुर्भाव मानते हैं। श्री सिद्धसेन दिवाकर दोनों को एक ही मानते हैं इस भांति यह तीनों महान पुरुष क्रमशः क्रमवाद, युगपद् वाद व अभेद वाद के समर्थक हैं। (देखो ज्ञान बिन्दु में पं० श्री सुखलालजी का वक्तव्य पृ० ६१)

इस दुष्ट ने उनके सिर पर मिट्टी से दीवार सी बनाकर, सिर पर जलते हुए कोयले धर दिये। श्री कृष्ण के अनुज महान क्षत्रिय वीर पीड़ा से कब घबराने वाले थे। प्रभु नेमिनाथ के उपदेश से वह देहधर्म व आत्मधर्म को भली भांति जान चुके थे, इसलिए सोमिल के प्रति इनके हृदय में तनिक भी क्रोध नहीं आया। इसका हृदय ग्राही वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है: —

दहन धर्म ते दाह जे अगनि थी रे, हुँ तो परम अदाह्य अगाह रे।
जे दाझे ते तो माहरो धन नथी रे, अक्षय चिन्मय तत्व प्रवाह रे ॥३२॥
क्षपक श्रेणि ध्यान आरोहणें रे, पुद्गल आतम भिन्न स्वभाव रे; ।
निजगुण अनुभव वली एकाग्रतारे, भजतां कीधो कर्म अभाव रे; ॥३३॥

ऐसे मुनियों की ओर लक्ष रहने से चित्त में दृढ़ता आती है। इस सज्झाय में कितने ही ऐसे पद हैं जिनसे ध्यान में एकाग्रता सध सकती है, भली प्रकार धुन लग सकती है। थोड़े पद नीचे दिए जाते हैं।

श्रद्धा भासन थिरताभाव, करतां प्रगटे शुद्ध स्वभाव ॥चे०॥
देहादिक ए मुज गुण नाहिं, तो किम रेहुवुं मुझ ए माहिं ॥चे०॥
जेह थी बंधाये निज तत्त्व, तेह थी संग करे कुण सत्त्व ॥

साधुपद की सज्झाय: — इस स्वाध्याय में साधु को निज सत्ता को स्थिर चित्त से साधने का उपदेश दिया है। साधु को समता और ऋजुता की साधना पर भार दिया है, इस पद में ऋजुता गुण की बहुत प्रशंसा की है। इस प्रकार मुनि ऋजुता और समता की साधना से निस्पृह, निर्भय, निर्मम और पवित्र बनकर आत्म साम्राज्य प्राप्त करता है। श्री[1] ज्ञानसारजी ने इस पर एक टब्बा लिखा है जिसमें कहा है कि 'श्री देवचन्द्रजी महाराज को एक पूर्व का ज्ञान था। ऐसा गुजरात में प्रसिद्ध है'।

साधु वंदना: — स्थानक वासी समुदाय में इसका बड़ा आदर है। वे लोग इसके ४-५ संस्करण निकाल चुके हैं। सं० २००६ में श्री मधुकर मुनि के अनुवाद व कवि श्री अमरचद्रजी की भूमिका सहित एक संस्करण निकाला

---

१. श्री ज्ञानसारजी का जन्म सं० १८०१ में ओसवाल जाति में हुआ था। श्री जिन लाभ सूरिजी ने इन्हें १८२१ में दीक्षित किया था। लोग इन्हें लघु-आनन्दघनजी कहते थे। यह क्षमा कल्याणजी के समकालीन थे। इन्होंने जयपुर स्थित मोहनबाड़ी में दादा साहब के चरणों की प्रतिष्ठा कराई थी। (नाहटाजी द्वारा संपादित ज्ञानसार ग्रन्थावली में जीवन चरित्र पृ० २३)

है। उक्त कविताओं के अतिरिक्त अन्य अनेक काव्य हैं। जैसे वीर निर्वाण की ढालें, रत्नाकर पच्चीसी का हिन्दी पद्यानुवाद, भावी प्रथम जिन स्तवन, सीमंधर स्वामी का विनती रूप स्तवन, श्री सिद्धाचल चैत्य परिपाटी स्तवन, सिद्धाचलजी के अन्य स्तवन, नवानगर आदि जिनस्तवन, इसमें आगम प्रमाण से प्रतिमा पूजा सिद्ध की है, समवसरण स्तवन, कुम्भस्थापन स्तवन, होली, ज्ञान बहुमान नमस्कार एवं सिद्धाचल गिरनार वीस स्थानक स्तुति।

इनके अतिरिक्त श्री नाहटाजी ने बीकानेर से प्रकाशित होने वाली वीसी में कुछ रचनायें प्रकाशित की थीं वे निम्नलिखित हैः—

(१) ऋषभ जिन स्तवन (२) ध्यान चतुष्क विचार गर्भित शीतल जिन स्तवन, इसमें ध्यान के विषय में वर्णन किया है। (३) लींबडी शांति जिन स्थापन स्तवन (४) पार्श्वनाथ गीत (५) मौन एकादशी नमस्कार (६) भावी तीर्थंकर पद्मनाभ जिनस्तवन (७) आठ रुचि की सज्झाय (८-९) दो पद (१०) चारित्र सुख वर्णन द्वादश दोधक (११) हीयाली (१२) उदय स्वामित्व पंचाशिका, यह प्राकृत में है, श्री विनयसागरजी को संवत् २००२ में जयपुर भंडार में मिली थी।

इनके सिवाय 'आनन्दघन चौवीसी' में 'ध्रुवपद रामी हो स्वामी माहरा' से प्रारंभ होने वाला 'पार्श्व जिन स्तवन' तथा 'वीर जिणेसर चरणे लागू' से प्रारंभ होने वाला 'महावीर जिन स्तवन' भी श्रीमद् के बनाये हुए हैं। इसका पुष्ट प्रमाण श्री ज्ञानसारजी महाराज द्वारा रचित आनन्दघन चौवीसी का बालावबोध है[1]।

श्री मोहनलालजी दलीचंदजी देसाई कहते हैं[2]। 'श्री देवचन्द्रजी अनेक प्रसंग पर शुष्क कवि लगते हैं.........'

श्री नागकुमारजी कहते हैं[3]:—"इस प्रकार के महात्माओं के आत्मलक्षी गायनों को काव्य के स्थूल माप से आंकना उनके प्रति एक प्रकार से अन्याय करना है। उन महात्माओं का मुख्य उद्देश्य अपने अनुभव को लोकोपकार के लिये व्यक्त करने का होता है इसलिये उनकी भाषा में वाह्य अलंकार इनको वाह्य दरिद्रता जितने ही दरिद्र दीखते हैं किन्तु सत्य और असत्य के लिये उनके हृदय में जो युद्ध चला करता है, उस हृदय मंथन के परिणाम-

---

१. देखो नाहटाजी कृत ज्ञानसार ग्रन्थावली का जी० पृ० ९९ से १०२।

२, पादराकरजी द्वारा लिखित जी० का वक्तव्य पृ० ६२

३. श्रीमद् देवचन्द्र द्वि० सं० प्रस्तावना प्र० पृ० ६

स्वरूप उनको जिन वाक्यों की स्फुरणा होती है, वही सच्चा काव्य है। उसमें प्रयत्न नहीं होता, स्वतः स्फुरणा होती है इसलिये उसमें कवित्व है, इसही दृष्टि से नरसिंह मेहता, मीरांबाई, अखा, धीरा, प्रीतम और ब्रह्मानंद कवि कहे जा सकते हैं। श्री मकातीजी ने अनेक अंग्रेजी लेखकों के उद्धरण अपनी इस बातकी पुष्टि के लिये द्वि० भाग में दिये हैं। उन्होंने ब्राउनिंग के इन शब्दों को भी उधृत किया है "Philosophy first and poetry which is its highest outcome afterwards".

अर्थात् तत्त्वज्ञान का स्थान प्रथम है और कविता का स्थान उसके पीछे है क्योंकि कविता तत्त्वज्ञान का परिणाम है—उससे उत्पन्न होने वाला फल है। इस दृष्टि से देखने पर हमें देवचंद्रजी की कविता के विषय में कुछ भी शिकायत करने का अवसर नहीं रहता।

संक्षेप में श्री देवचंद्रजी के लिये इतना ही कहना बस होगा कि ये अत्यन्त मधुर भाषी संत पुरुष थे। उन्होंने विरोधियों के लिये भी कठोर भाषा का कहीं प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अपने जीवन द्वारा हमें यह अमूल्य पाठ पढ़ाया है कि गच्छ निश्रा ऊँची से ऊँची अध्यात्मिक साधना के लिये भी प्रतिबन्ध रूप नहीं होती। उन्होंने आगमसार में अपना हृदय खोलकर रख दिया है। वे कहते हैं[1]—"अहो भव्य प्राणी जो तमने जिनमतनी चाहना छे अने जो तुमे जिनमत ने इच्छो छो मोक्षने चाहो छो तो निश्चय नय अने व्यवहार नय छांडशो नहि एटले बेहु नय मानजो। व्यवहार नय चालजो अने निश्चय नय सद्दहजो जो तुमे व्यवहार नय उत्थापशो तो जिन शासन ना तीर्थनो उच्छेद थाशे। जेणे व्यवहार नय न मान्यो तेणे गुरु वंदना, जिनभक्ति, तप, पच्चखाण, सर्व न मान्या एम जेणे आचार उत्थाप्यो तेणे निमित्त कारण उत्थाप्यो अने निमित्त कारण विना एकलो उपादान कारण ते सिद्ध न थाय माटे निमित्त कारण रूप व्यवहार नय जरूर मानवो"।

श्री देवचन्द्रजी ने श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री मल्लवादी आदि सब ही श्रुतधरों के सिद्धान्तों का उल्लेख बहुमान पूर्वक किया है किन्तु उनका मुख्य झुकाव श्री जिन भद्र गणि क्षमाश्रमण के क्रमवाद की ओर ही था ऐसा उनकी रचनाओं से स्पष्ट होजाता है श्री जिनभद्र गणि का वृहत आवश्यक भाष्य मानो इनको कंठस्थ था इसलिये इनको लघु जिन भद्र गणि क्षमा श्रमण कहना युक्ति संगत होगा।

श्रीमद् देवचंद्रजी का जीवन चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी रचनाओं तथा देवविलास के आधार पर शिला लेखों के प्रमाण सहित लिखा गया है इसही लिए भाषा के संबंध में विस्तारपूर्वक विवेचन करना आवश्यक समझा है।

---

१. श्रीमद् देवचन्द्र प्रथम भाग प्र० संस्करण पृ० ६४ द्वि० सं० पृ० ७५

श्री पादराकरजी लिखते हैं कि "[1]मैंने वृद्धजनों से सुना है कि परम वैरागी श्री मणिचंद्रजी यति को उनके तपके प्रभाव से धरणेन्द्र ने साक्षात् दर्शन दिये थे। यतिजी के श्रीमद् की गति के विषय में पूछने पर देवराज ने कहा था कि श्री देवचंद्रजी केवली तरीके महाविदेह में विचरते हुए अनेक जीवों का महान् उपकार कर रहे हैं।" मैंने भी महापुरुषों के मुख से ऐसा ही सुना है।

श्रीमद् के जीवन की अन्य अनेक घटनाओं का वर्णन श्री पादराकरजी ने अपने लिखे दोनों जीवन चरित्रों में किया है उनमें से कुछ का वर्णन संक्षेप में यहां किया जाता है:—

(१) 'एक समय जब श्रीमद् कायोत्सर्ग (काउसग्ग) कर रहे थे तब एक सर्प उनके शरीर पर चढ़ गया। यह देखकर अन्य साधु घबड़ा गये किन्तु श्रीमद् तनिक भी विचलित नहीं हुए'। सच है इतनी दृढ़ता हुए बिना आत्म-ज्ञान प्रगट हो ही नहीं सकता। जब तक देहाध्यास है, देह पर ममत्व है तब तक कहने मात्र का आत्म ज्ञान है।

(२) 'श्रीमद् पंजाब में विहार कर रहे थे। एक पर्वत के नीचे सिंह रहता था। श्रीमद् उस रास्ते से जाने लगे, लोगों ने मना किया किन्तु श्रीमद् ने फरमाया कि मेरी आयु को न्यूनाधिक करने की किसी की ताकत नहीं है। मेरे हृदय में सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव है इसलिये मैं किसी का भय क्यों रखूँ ? यह कह कर उन्होंने उधर ही प्रस्थान किया'।

(३) 'जामनगर में एक जैन मंदिर को मुसलमानों ने जबरदस्ती से मसजिद बना ली थी। मुसलिम शासन होने से मंदिर की मूर्ति को जैन लोग पहिले ही तहखाने में रख चुके थे। मुसलमानों का जोर हटने पर जैनियों ने राजा से फरियाद की किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। सौभाग्य से श्री देवचन्द्रजी वहाँ पधारे। उन्होंने राजा से कहा। उसने यह शर्त रखी कि राज्य की तरफ से ताले लगा दिये जावेंगे जो अपने प्रभु के नाम मात्र से ताले खोल देगा उसी की यह वस्तु मानी जावेगी। इस प्रकार का ठहराव करके पहला मौका मुसलमान फकीरों को दिया गया। उन्होंने नाना प्रकार से प्रार्थना की पर ताले नहीं खुले। इसके पीछे श्री देवचन्द्रजी को मौका दिया गया। इन्होंने प्रभु से प्रार्थना की क्योंकि इनकी प्रार्थना के पीछे सत्य का बल था इसलिये ताले तुरंत खुल गये'।

जयपुर
आषाढ़ कृ० १३ वीराब्द २४८५

निवेदक
उमरावचंद जरगड

---

१. श्रीमद् देवचंद्रजी का जी. च. पृ. ८८–८९

॥ श्रीः ॥

श्रीमद् देवचन्द्रजी कृत

श्री चतुर्विंशति जिन स्तवन

॥ प्रथम श्री ऋषभजिन स्तवन ॥

निंद्रडी वेरण हुइ रही ॥ ए देशी ॥

ऋषम जिणंदशुं प्रीतडी, किम कीजे हो कहो चतुर विचार ।
प्रभुजी जइ अलगा वस्या, तिहां किणे नवि हो को वचन उचार ॥ऋ०॥१॥

अर्थः—मोक्षार्थी जीव अन्तरंग में विचारता है तथा आचार्यादि से पूछता है कि हे चतुर ज्ञानी मुनि जनो ! ऋषम जिनेन्द्र से प्रीति किस भांति की जावे ? प्रभुजी तो मुझ से सर्वथा दूर जा बसे हैं और उस सिद्ध अवस्था में किसी भी प्रकार के वचन का उच्चारण नहीं है—वाणी का अभाव है ।

विशेषः—उपकार संपदा और अतिशय संपदा से जो सुशोभित हों वे जिनेन्द्र कहे जाते हैं । उन जिनेन्द्र भगवान से मैं द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से सब प्रकार से दूर हूँ । ऐसी अवस्था में उनसे प्रीति कैसे करूं ? क्योंकि द्रव्य से मैं कर्मानुयायी पुद्गल भाव भोगी अशुद्ध द्रव्य हूँ और प्रभु निरावरण स्वभावी अक्षय ज्ञानादि स्वगुण भोगी शुद्ध द्रव्य हैं । क्षेत्र से मैं ससार क्षेत्री शरीरावगाही और प्रभु लोकान्त क्षेत्री अशरीरी एवं स्वप्रदेशावगाही हैं । काल से मैं विविध अस्थायी पर्यायों का धारक और प्रभु अनंत काल स्थायी सिद्धत्व पर्याय के धारक हैं तथा भाव से मैं रागी व द्वेषी हूँ और प्रभु वीतराग हैं । इस भांति अभी तो सब तरह प्रभु मुझ से दूर हैं । प्रभु कुछ कहते नहीं क्योंकि आत्मा जब तक कर्मवश है तभी तक पुद्गल का संग है, तभी तक शरीर है, तभी तक वाणी है और वाणी पुद्गल[1] का गुण है ।

---

१. पुद्गल के टकराने से शब्द होता है । यह जैन दर्शन की मान्यता है, वैदिक दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानता है । श्री सम्पूर्णानंद जी अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ चिद्विलास पृ० १९६ में लिखते हैं 'पोथियों के आधार पर पंडित सम्प्रदाय शब्द का सम्बन्ध आकाश से जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता है ।'

फिर चि० पृ० १३५ में कहते है—"आकाश को भूत भले ही कहा जाय पर उसमें और भूतों के लक्षण नहीं मिलते, वह गुरुत्वहीन है । उसके परमाणु नहीं होते, 'सब भौतिक घटनाएं आकाश में ही घटित होती हैं इसलिए आकाश को भले ही भूत कहा जाय किन्तु वह वायु आदि चतुर्भूत का सजातीय नहीं हैं"

"यह आकाश वही पदार्थ है जिसे दिक् नाम से पुकारा जाता है" । चि० पृ० १९८

कागल पण पहोंचे नहीं, नवि पहोंचे हो तिहां को परधान ।
जे पहोंचे ते तुम समो नवि भाखे हो कोईनुं व्यवधान ॥ ऋ० ॥ २ ॥

अर्थः—वहां कोई पत्र नहीं पहुंच सकता, न कोई प्रधान पुरुष ही वहां जा सकता है। वहां तो वहीं पहुँच सकता है जो आपके समान प्रभुतामय, वीतराग, अयोगी हो किन्तु वचन रहित होने से वह इस पड़े हुये पर्दे के रहस्य को नहीं कह सकता, ऐसी अवस्था में प्रभु से प्रीति किस प्रकार की जावे ?

प्रीति करे ते रागीया, जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग ।
प्रीतड़ी जेह अरागीथी, भेलववी ते हो लोकोत्तर माग ॥ ऋ ॥ ३ ॥

अर्थः—हे जिनवरजी ! जो प्रीति करते हैं वे तो रागी होते हैं और आप वीतराग हैं। रागी को तो अनेक प्रकार से प्रसन्न किया जा सकता है पर जो राग रहित हो उसे किस प्रकार प्रसन्न किया जावे ? यहां कोई कहे ऐसी स्थिति में वीतराग से प्रीति क्यों करनी चाहिए ? उसके उत्तर में महान् तत्ववेत्ता कवि कहते हैं कि वीतराग से प्रीति करना ही लोकोत्तर मार्ग है क्योंकि रागी से तो हर कोई प्रीति करता है किन्तु वीतराग से प्रीति करना ही लौकिक मार्ग से परे की, बहुत ऊँची वस्तु है।

प्रीति अनादिनी विष भरी, ते रीते हो करवा मुझ भाव ।
करवी निर्विष प्रीतडी, किण भांते हो कहो बने बनाव ॥ ऋ ॥ ४ ॥

अर्थः—संसारी जीव अनादि काल से प्रीति करते आए हैं किन्तु यह पुद्गल के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के मनोज्ञ संयोग पर इष्टता वाली प्रीति अप्रशस्त है। कर्म बंध की हेतु होने से यह अनादि काल की प्रीति विष से भरी हुई है। जैसी प्रीति ऐश्वर्य एवं स्वजन कुटुम्ब से है वैसी ही प्रीति प्रभु से करने का मेरा भाव है पर विचारता हूँ तो यह प्रीति भी कल्याण कारक नहीं लगती क्योंकि अपने आत्मीय से प्रेम किसको नहीं होता ? शास्त्रों में ममकार और कुलाचार से अरिहन्त पर राग करने को मोक्ष मार्ग नहीं कहा है अतएव अरिहंत से ममकार रहित होकर निर्विष प्रीति करना चाहिये। जिस प्रीति में इहलोक एवं परलोक में इन्द्रिय सुख की कामना हो वह विषमय अप्रशस्त राग है।

इस भांति विद्वान लेखक ने आकाश तत्व की जो व्याख्या की है वह जैन दर्शन की व्याख्या से बहुत कुछ मिलती हुई है ; सब पदार्थों को अवगाहन–स्थान देने वाली वस्तु को जैन में आकाश कहा है यह क्षेत्री द्रव्य है इसलिए दिक् का इसमें समावेश हो जाता है अतएव जैन दर्शन दिक् को पृथक वस्तु नहीं मानता ।

प्रभु अपने ज्ञानादिक गुण मुझे प्रदान करें ऐसी भी अभिलाषा नही करनी चाहिए। शुद्धज्ञानादि गुणों का राग निज गुण प्रगट करने के लिए करना ही प्रशस्त राग है। ऐसी निर्विष प्रीति करने की मुझ में तो शक्ति नही है इसलिए हे उपकारी पुरुषो! आप ही बतावें कि यह बनाव किस भाति बन सकेगा?

प्रीति अनती पर थकी, जे तोड़े हो ते जोड़े एह।
परम पुरुष थी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह ॥ ऋ० ॥ ५ ॥

अर्थः—चतुर पुरुष उपाय बतलाते हैं—देहादि पुद्गल भाव से अथवा शरीरस्थ जीव से जो अनन्त काल की प्रीति को तोडता है वही वीतराग प्रभु से प्रीति जोड़ सकता है। यहा कोई कहे कि राग तो पाप स्थानक है इसलिए राग क्यो करना चाहिए? इसके उत्तर में कवि कहते है कि परम पुरुष देवाधिदेव वीतराग प्रभु से प्रीति करने को तथा गुण एकत्व ध्यान द्वारा उनसे मिलने को 'गुण गेह' कहा है इसलिए पहिले अरिहन्त पर राग करना चाहिए क्योकि इस राग से उनके गुणों का चिन्तन होता है और फिर क्रम से साधक तथारूप हो जाता है इसलिए वीतराग से राग करना वीतरागता का कारण है।

प्रभुजी ने अवलंबता[1], निज प्रभुता हो प्रगटे गुण रास।
देवचन्द्रनी सेवना, आपे मुझ हो अविचल सुख वास ॥ ऋ० ॥ ६ ॥

अर्थः—प्रभुजी के अवलबन से अपनी अनन्त गुण पर्याय रूप प्रभुता प्रगट होती है, देवताओं में चन्द्रमा के समान ऐसे श्री अरिहन्त देव की सेवना मुझे अविचल सुख का स्थान प्रदान करे अर्थात् श्री परमात्मा पुरुषोत्तम अरिहन्त की सवर परिणमन रूप सेवना मुझे अक्षय सुख प्रदान करे।

---

१. स्वोपज्ञ बालावबोध के आदि में मुनिवर देवचन्द्र जी कहते हैं 'यह जीव, देवतत्व, गुरुतत्व तथा धर्म तत्व की भूल से संसार चक्र में भटक रहा है। परिग्रह और इन्द्रिय सुख को हितकारी मानकर अपने अनंत आनंदमय आत्मस्वरूप को भूल बैठा है। मानव जन्म पाकर भी यह जीव श्री वीतराग की सेवना न करेगा तो कब करेगा? इसलिए परम उपकारी जगत् हितकारी श्री अरिहंत की स्तवना तथा सेवना करनी चाहिये किन्तु राग बिना प्रभु की सेवना नहीं होती, इस कारण प्रभु की स्तवना करते हुये उन पर अत्यन्त प्रीति करनी चाहिये।"

द्वितीय श्री अजित जिन स्तवन

देखो गति दैवनी रे ॥ ए देशी ॥

ज्ञानादिक गुण संपदा रे, तुझ अनन्त अपार ।
ते सांभलतां ऊपनी रे, रुचि तेणे पार उतार ॥
अजित जिन तारजो रे, तारजो दीन दयाल ।
अजित जिन तारजो रे ॥ अ० ॥ १ ॥

अर्थः—हे प्रभु ! आप में ज्ञानादि गुणों की अनन्त[1] एवं अपार सम्पदा है जिसका वर्णन शास्त्रों में है उसे सुन कर मुझे भी मेरी आत्म सम्पदा प्रगट करने की रुचि उत्पन्न हुई है इससे कहता हूँ कि हे परम पुरुष ! मुझ अनाथ, दीन, भव भ्रमण करने वाले को पार उतारो । हे अजित जिन ! मुझे तारो ! हे प्रभु आप दीन दयाल हैं, भाव करुणा के करने वाले हैं, संसार से पार उतरने की विनती आपके सिवा किससे करूं ? क्योंकि जो स्वयं भव पार हुए हैं उन्हीं से भवपार होने की विनती करनी चाहिए इसलिए हे स्वामी मेरा संसार से निस्तार करो ।

जे जे कारण जेहनु रे, सामग्री संयोग ।
मिलतां कारज नीपजे रे, करता तणे प्रयोग ॥ अ० ॥ २ ॥

अर्थः—जिस कार्य का जो जो कारण है, उस कारण तथा सामग्री का सयोग मिलने से वह कार्य होता है पर कर्त्ता के प्रयोग से ही कार्य निष्पन्न होता है । यदि कारण व सामग्री मिलने पर भी कर्त्ता प्रयोग,–साधन रूप व्यापार न करे तो कार्य नही होता ।

विशेषः—जैसे घट रूप कार्य का मिट्टी उपादान हैं । दंड, चक्र, चीवर, निमित्त कारण और कुम्हार कर्त्ता है । जो कुम्हार उद्यम करे तो घट रूप कार्य होता है वैसे ही

१. प्रभु में अनन्त गुण सम्पदा इस भांति है–पंचास्तिकाय के सब द्रव्यों से उन सब द्रव्यों के प्रदेश अनन्त गुणे हैं । सब प्रदेशों से एक द्रव्य के गुण अनंत गुणे हैं तथा सब गुणों से अस्ति नास्ति रूप स्वपर्याय अनंत गुणी हैं ।

अस्ति पर्याय भी वस्तु का स्वधर्म है एवं नास्ति पर्याय भी वस्तु का स्वधर्म है, ऐसा श्री विशेषावश्यक के श्रुत ज्ञानाधिकार में कहा है । जीव द्रव्य के अस्ति पर्याय सबसे अनन्त गुणे हैं वे सब प्रभु के निरावरण हुए हैं अतः यह अनन्त-गुणमयी परमानंद संपदा प्रभु में है

सिद्धता रूप कार्य वीतराग देव एवं निर्ग्रंथ गुरु निमित्त कारण हैं और कर्मभूमि–मनुष्य क्षेत्र यह सामग्री है किन्तु ये सब कारण और सामग्री मिलने पर भी कर्त्ता आत्मा, मोक्ष साधन रूप प्रयोग न करे तो सिद्धता रूप कार्य नहीं होता। यहां कर्त्ता आत्मा और सिद्धता रूप कार्य अभिन्न है किंतु घट रूप कार्य में कर्त्ता कुम्हार भिन्न है अतएव जो उपादान कारण और कर्त्ता एक ही हो तो वह कार्य भी कर्त्ता से अभिन्न होता है पर जहां उपादान और कर्त्ता भिन्न होता है वहां कार्य और कर्त्ता भी पृथक् पृथक् होते हैं।

कार्य सिद्धि कर्त्ता वसु रे लहि कारण संयोग।
निज पद कारक प्रभु मिल्या रे, होए निमित्तह भोग ॥ अ० ॥ ३ ॥

अर्थः—कार्य की सिद्धि कर्त्ता के अधीन है पर निमित्तादि कारण मिलने से कार्य होता है इसलिए परमानद महोदय रूप निज पद कारक प्रभु के मिलने से अवश्य निमित्त का भोग होता है अर्थात् मोक्ष के निमित्त कारण श्री तीर्थंकर देव को पाकर संसार से विरक्त मोक्षार्थी उपादान हर्ष पूर्वक इस निमित्त का उपभोग करता है।

अज कुल गत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ते भवि लहे रे, आतमशक्ति सँभाल ॥ अ० ॥ ४ ॥

अर्थः—बकरों के टोले में रहा हुआ सिंह का बच्चा अपने सिंहपने को भूल गया था। उसने जब दूसरे सिंह को देखा तो अपने सिंहपने का भान हो आया। उसी प्रकार प्रभु भक्ति करने से भव्य जीव अपनी सत्तागत आत्म शक्ति को पहचान कर उसे प्राप्त कर लेता है।

विशेषः—प्रभु भक्ति करते हुए भव्य जीव विचारता है कि पहले तो प्रभु भी संसारी थे, पीछे सिद्ध हुए हैं वैसे ही मैं भी साधना करूं तो सिद्ध रूप हो जाऊँ। यह सब पहचान प्रभु सेवना से उत्पन्न होती है।

कारण पद कर्त्ता पणे रे, करी आरोप अभेद।
निज पद अर्थी प्रभु थकी रे, करे अनेक उमेद ॥ अ० ॥ ५ ॥

अर्थः—कारण पद जो अरिहंतादिक है उस कारण पद में अभेद कर्त्तापन का आरोपण करके निज सिद्धता रूप कार्य का अर्थी भव्य जीव, श्री तीर्थंकर देव से अनेक सम्यक्त्वादि गुणों की आशा करे अर्थात् निमित्त कारण मे कर्त्तापन का आरोपण करके स्तुति करे।

एहवा परमातम प्रभु रे, परमानंद स्वरूप ।
स्याद्वाद सत्ता रसी रे, अमल अखण्ड अनूप ॥ अ० ॥ ६ ॥

अर्थः—ऐसे परमात्म प्रभु परमानंद स्वरूप हैं, गुण पर्याय रूप स्याद्वाद सत्ता के रसिया हैं, कर्म मल रहित अखण्ड और अनुपम हैं जिनके दर्शन से मैं कृतार्थ हो गया।

आरोपित सुख भ्रम टल्यो रे भास्यो अव्याबाध।
समरयो अभिलाषी पणो रे, कर्त्ता साधन साध्य ॥ अ० ॥ ७ ॥

अर्थः—आरोपित सुख का भ्रम जाता रहा अर्थात् इन्द्रिय जन्य विषय सुख को जो सुख समझ रखा था वह सब भ्रम मिट गया एवं अव्याबाध आत्मिक सुख का भान हुआ, उसी सुख की अभिलाषा हुई इसलिए स्वरूपानुयायी अभिलाषी भाव का स्मरण किया तब उसी स्वरूपानुयायी सुख का कर्त्ता हुआ, वही सुख साध्य हुआ और उसी सुख के साधन में लगा।

विशेषः—अब तक यह जीव विषय सुख का अभिलाषी था, उसी का स्मरण करता था, उसी का कर्त्ता था, वही साध्य था और उसी के साधन जुटाता था।

ग्राहकता स्वामित्वता रे, व्यापक भोक्ता भाव।
कारणता कारज दशा रे, सकल गह्यु निज भाव ॥ अ० ॥ ८ ॥

अर्थः—हे दीनबन्धु ! आपके दर्शन से ग्राहकता, स्वामीपन, व्यापकता, भोक्तापन, कारणता और कार्य इन सब ने आत्मस्वभाव ग्रहण किया और परभाव छोड़ना प्रारंभ किया।

विशेषः—अबतक यह जीव विषय सुख का ग्राहक था इसलिये स्त्री पुत्र आदि परभाव का अपने को स्वामी मानता था, उसकी वृत्ति भी परभाव में व्यापक थी किन्तु प्रभु का दर्शन पाकर अव्याबाध सुख का ग्राहक बना, अनन्त ज्ञानादि स्वसंपदा का स्वामी हुआ, आत्मानन्द के साधन में व्यापक बना एवं पुद्गल भोग त्याग कर स्वभाव भोगी हुआ। अब तक यह आत्मा कर्म रूप उपाधि का उपादान था अब शुद्ध स्वरूप का उपादान हुआ। अब तक आश्रव रूप कार्य का कर्त्ता था अब संवर निर्जरा रूप कार्य का कर्त्ता हुआ।

श्रद्धा भासन रमणता रे, दानादिक परिणाम।
सकल थयां सत्ता रसी रे, जिनवर दरिसण पाम ॥ अ० ॥ ९ ॥

अर्थः—हे जिनवर देव ! आपका दर्शन पाकर श्रद्धा, भासन, रमणता और दानादिक परिणाम यह सब आत्मा के मूल धर्म के रसिक हो गये।

विशेष:—अब तक पुण्य के उदय को ही सुख मानता था अब यह श्रद्धा हुई कि अव्याबाध सुख ही साध्य है। अब तक अनेक शास्त्रों की जानकारी को ही ज्ञान मानता था अब आत्मस्वरूप के यथार्थ बोध को ही ज्ञान मानने लगा तथा जो पुद्गल के वर्णादिक में रमणता थी वह अब निज स्वरूप के सम्मुख हो गई।

अब तक दान पुद्गल का था, लाभ भी धन धान्य आदि पुद्गल का था, भोग उपभोग भी पुद्गल का था और वीर्य भी बाल-वीर्य था पर अब यह सब ज्ञानादि निज सत्ता धर्म के रसिक होगये अर्थात् हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन पाकर आत्म सत्ता की श्रद्धा हुई, आत्म गुण का भासन हुआ, आत्म धर्म में रमण हुआ, सहकार रूप-दान, गुण प्रागभावरूप लाभ, स्वगुण का भोग, स्वपर्याय का उपभोग तथा वीर्य पडित-वीर्य होकर संवर हेतु निर्जरा रूप हुआ।

तिणे निर्यामक माहणो रे, वैद्य गोप आधार।
देवच द्र सुख सागरू रे, भाव धर्म दातार॥ अ०॥ १०॥

अर्थ:—इसलिए हे प्रभु! आप चरित्र धर्मरूप जहाज के चलाने वाले निर्यामक समान हैं, अहिंसा धर्म के उपदेशक होने से माहण है, आत्म अशुद्धतारूप भाव रोग के नाश करने वाले वैद्य हैं, भाव से ज्ञानादि गुण और द्रव्य से जीव रक्षा करने वाले परम गोप (ग्वाल) हैं तथा भवअटवी में भटकते हुए प्राणियो के परम आधार हैं। देवो में चन्द्रमा के समान हे अजितनाथ प्रभु! आप अत्मिक सुख के सागर है, सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप भाव धर्म के उपदेशक होने से भाव धर्म के महान दाता है।

धर्माचरण चार प्रकार से होता है—(१) प्रीति (२) भक्ति (३) वचन (४) असंग। आचार्य प्रवर श्री हरिभद्र सरिजी ने षोडशक व उसकी टीका में इन अनुष्ठानों के विषय में काफी प्रकाश डाला है। जो अपने साध्य को समीप लावे उसे अनुष्ठान कहते है। प्रीति व भक्ति एक ही मनोभाव है। पत्नि पर प्रीति व माता पर भक्ति होती है। जिस पर प्रेम होता है उसके वचनों का आदर होना तथा उसके अनुसार आचारण होना स्वाभाविक है। शास्त्र के अनुसार आचरण को वचनानुष्ठान कहते है। इसके अधिकारी सर्व विरति मुनिजन है क्योंकि प्रभु ने निवृत्ति प्रधान धर्म पर ही भार दिया है। सयम पालते हुए जब सस्कार इतने दृढ हो जाए कि प्रवृति काल में भी शास्त्र स्मरण की आवश्यकता न रहे तो उसे असगानुष्ठान कहते हैं इसके अधिकारी जिनकल्पी मुनिवर होते हैं। इस भांति भावों के तारतम्य से (कमीबेसी से) एक ही अनुष्ठान के चार भेद हो जाते हैं।

तृतीय श्री संभव जिन स्तवन

॥ धण रा ढोला ॥ ए देशी ॥

श्री संभव जिनराजजी रे, ताहरु अकल स्वरूप ॥ जिनवर पूजो ॥
स्वपर प्रकाश दिनमणि रे, समता रसनो भूप ॥ जिन० ॥ १ ॥
पूजो पूजो रे भविक जन पूजो, हारे प्रभु पूज्यां परमानद ॥ जिन० ॥

अर्थः—हे संभव जिनराज ! आपका स्वरूप वचनातीत है, किसी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। हे प्रभु ! आप आत्म धर्म और पर-पुद्गलादिक धर्म के प्रकाश करने में सूर्य के समान हैं, समता रस के स्वामी हैं। हे भविकजन ! ऐसे तत्व प्रकाशक अरिहंतदेव को बारंबार पूजो क्योंकि ऐसे अनन्त ज्ञानमय, अनन्त दर्शनमय, निर्मलानंदी, स्वरूप भोगी अज, अविनाशी, अक्षय, अणाहारी, अशरीरी देव को पूजने से परमानन्द होता है।

विशेष:—श्रुत केवली, अवधि ज्ञानी, मन:पर्यव ज्ञानी प्रमुख में केवली भगवान राजा के समान होते हैं और इन सब में तीर्थंकर भगवान राजा के समान होते है इसलिए जिनराज कहा है। आत्मा के सहज, अविनाशी, अप्रयासी स्वरूप सुख को ही परमानंद सुख कहते हैं; पुद्गल योग से होने वाले सुख को तो उपचार से सुख कहा जाता है।

अविसंवाद निमित्त छो रे, जगत जंतु सुखकाज ॥ जिन० ॥
हेतु सत्य बहुमान थी रे, जिन सेव्यां शिवराज ॥ जिन० ॥ २ ॥

अर्थः—हे प्रभु ! आप जगत जीवों के आत्मिक सुख रूप कार्य उत्पन्न करने के लिए संदेह रहित और विरोध रहित निश्चय निमित्त कारण है। सच्चे हेतु और सच्चे बहुमान से आपकी सेवा करने से सिद्धता रूप राज्य प्राप्त होता है।

विशेष:—श्री अरिहंत देव मुक्ति रूपी कार्य के सत्य हेतु हैं। इहलोक, परलोक, एवं इन्द्रिय सुख की अभिलाषा रहित उनका बहुमान करना सच्चा बहुमान है। समवसरणादि का बहुमान करना द्रव्य बहुमान है और पुद्गलातीत परम अरूपी अतीन्द्रिय शुद्ध ज्ञानादि गुणों का बहुमान करना भाव बहुमान है।

जिन शासन में नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपों को कारण रूप कहा है तथा चौथे भाव निक्षेप को कार्य रूप कहा है इसलिये जहां तक प्रभु के

अतिशयादिक का योग विकल्प है वहां तक द्रव्य बहुमान है और दर्शनगुण से प्रभुता का भासन होने पर जो तत्व प्रागभाव का बाहुमान हो वह भाव बहुमान है। नामादिक तीन निक्षेप भाव के कर्त्ता हों तो उन्हें भी सत्य बहुमान जानना चाहिये। ऐसे सत्य बहुमान से जिन भगवान की सेवना करना चाहिये इस भांति प्रभु की आज्ञानुसार परभाव त्याग करके स्वभाव ग्रहण करने से सिद्ध पद प्राप्त होता है।

उपादान आतम सही रे, पुष्टालंबन देव ॥
उपादान कारण पणे रे, प्रगट करे प्रभु सेव ॥जिन॥३॥

अर्थः—सिद्धता रूप कार्य का उपादान आत्मा अवश्य है किन्तु शुद्ध तत्वरूप जिन देव, पुष्ट अवलंबन है। यद्यपि आत्मा में उपादान कारणता अनादि काल से है तो भी वह उपादान कारणता, जिन सेवना रूप निमित्त कारण पाकर ही प्रगट होती है।

विशेषः—जो कारण अभेद रूप से कार्य में परिणत हो वह उपादान कारण है एवं जो कर्त्ता के उद्यम को कार्यरूप परिणत करने में सहायक हो वह निमित्त कारण है। यह निमित्त कारण कार्य से सर्वथा भिन्न होता है। कारण पर्याय उत्पन्न होती है और कार्य पूर्ण होने पर कारणता का अभाव हो जाता है।

कारण पर्याय कब उत्पन्न होती है? इसका उत्तर यह है कि कर्त्ता को जब कार्य रुचि होती है तब कारणता उत्पन्न होती है। यों तो सब जीव सिद्धता के उपादान अनादि काल से हैं पर सब सिद्धता उत्पन्न नही कर सकते क्योंकि कारणता उत्पन्न नही हुई है। यह कारणता जिनवर देव के अवलंबन से उत्पन्न होती है, इसलिए प्रभु पुष्ट निमित्त कारण है। यदि कारणता को अनुत्पन्न माना जावे तो वह वस्तु धर्म ठहरेगी, यदि वस्तु धर्म हो तो सिद्ध भगवान में भी उपादान कारणता होनी चाहिये पर उनमें तो है नही क्योंकि वे तो अपना सम्पूर्ण सिद्धता रूप कार्य कर चुके हैं।

कार्य गुण कारण पणे रे, कारण कार्य अनूप ॥
सकल सिद्धता ताहरी रे, माहरे साधन रूप ॥जिन०॥४॥

अर्थः—हे प्रभु! आपका शुद्ध स्वरूप आपका कार्य गुण है, साधक को वही अनुपम कारण रूप है क्योंकि मोक्षरुचि उपादान को आपका अवलंबन लेकर आप जैसी स्वसत्ता प्रगट करनी है, इसलिए यह उसका कार्य है।

हे प्रभु! आपकी सकल सिद्धता, सकल प्रदेश, निरावरणता, सर्व स्वधर्म प्राग्भावता मेरे को साधन रूप है।

एक वार प्रभु वन्दना रे, आगम रीते थाय ॥
कारण सत्ये कार्यनी रे, सिद्धि प्रतीत कराय ॥जि०॥६॥

अर्थः—आगम में कही हुई रीति से यदि एक बार भी श्री अरिहंत, अनन्तज्ञानी अनन्तदर्शी, शुद्ध चारित्री, अविकारी, अकषायी, स्वरूप भोगी, त्रैलोक्य पूज्य, त्रैलोक्य उपकारी, भाव सूर्य, कर्म रोग के महा वैद्य, परमेश्वर परोपकारी, भगवन्त की वन्दना की जाय तो कारण की सत्यता से मोक्ष रूपी कार्य सिद्धि की प्रतीती हो जाती है। क्योंकि सच्चे उपादान व सच्चे निमित्त से कार्यसिद्धि अवश्य होती है।

प्रभु पणे प्रभु ओलखी रे, अमल विमल गुण गेह ॥
साध्य दृष्टि साधक पणे रे, वंदे धन्य नर तेह ॥जि०॥६॥

अर्थः—राग द्वेषादि मल से शून्य, उज्वल ज्ञानादि गुणों के धाम, ऐसे प्रभु की प्रभुता को पहिचान कर साध्य दृष्टि से अर्थात् अपनी सब संपदायें प्रगट कराने वाले साध्य को दृष्टि में रखते हुए जो साधक निज ज्ञानादि गुण निर्मल करने के लिए भगवान की वन्दना करता है वह धन्य है,—कृत पुण्य है।

जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास ॥
जगत शरण जिन चरणने रे, वंदे धरीय उल्लास ॥जि०॥७॥

अर्थः—मोह ग्रसित जगत के जीवों के शरण रूप श्री जिन भगवान के चरणों को जो हर्षोल्लास पूर्वक वंदना करता है, उसका जन्म कृतार्थ है और उसका वह दिन भी, वैसा ही सफल है।

निज सत्ता निज भाव थी रे, गुण अनन्तनुं ठाण ॥
देवचन्द्र जिनराज जी रे, शुद्ध सिद्ध[1] सुख खाण ॥जि०॥८॥

अर्थः—प्रभु ने अनन्त गुण पर्याय रूप निज सत्ता को निज भाव से ही प्रगट किया है इसीलिये प्रभु अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्थानक हैं। देवों में चन्द्रमा के समान जिनराज, शुद्ध, सिद्ध-निष्पन्न गुणों की खान हैं।

१. सकल सिद्धि।

चतुर्थ श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

ब्रह्मचर्य पद पूजीये ।। ए देशी ।।

क्युँ जाणुं क्युँ बनी आवशे, अभिनंदन रस रीति हो मित्त।
पुद्गल अनुभव त्यागथी, करवी जसु परतीत हो मित्त ।।क्युँ०।। १ ।।

अर्थः—हे मित्र क्या मालूम अभिनन्दन प्रभु से रस रीति कैसे बन पड़ेगी ? अर्थात् प्रभु से एकत्व मिलाप कैसे होगा ? (अन्तरंग से स्फुरण होती है कि) पुद्गल के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के रस का त्याग करने से, उसके प्रति उदासीन होने से ही, हे आत्मन् ! तुझे उस एकत्व मिलाप की प्रतीति होगी। पुद्गल भोगी का शुद्ध तत्व से एकत्व मिलाप नहीं हो सकता स्वरूप भोगी से ही यह रसरीति बन पड़ेगी एवं उसी को इसकी प्रतीति होगी ।।१।।

परमातम परमेश्वरू, वस्तु गते ते अलिप्त हो मित्त ।।
द्रव्ये द्रव्य मिले नहीं, भावे ते अन्य अव्याप्त हो मित्त ।।क्युँ।।२।।

अर्थः—प्रभु कर्म रहित होने से परमात्मा है सब प्रकार स्वाधीन होने से परमेश्वर हैं एवं वस्तु धर्म से अलिप्त हैं। शुद्ध संग्रह नय से छः द्रव्यों में से कोई द्रव्य किसी द्रव्य से नहीं मिलता। यद्यपि संसारी जीव पुद्गल से सम्बन्ध करता है पर प्रभु कर्म मुक्त होने से पुद्गल से सम्बन्ध नहीं करते। भाव से भी अन्य द्रव्य के संग प्रभु का अव्याप्त भाव है, क्योंकि वस्तु की मूल परिणतिरूप प्रवृत्ति से अन्य जीव तथा पुद्गल की अव्याप्ति है।

विशेषः—पर व्यापकता उपाधि है। प्रभु का भाव धर्म निर्मल है इसलिए प्रभु द्रव्य से तथा भाव से किसी द्रव्य से नहीं मिलते; अलिप्त और अव्याप्त है।

गुण पर्याय के समुदाय को द्रव्य, प्रदेशावगाहना को क्षेत्र, उत्पाद, व्यय की वर्तना को काल, अपनी अपनी गुण पर्याय की प्रवृत्ति को भाव और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव इन चारों की परिणति को वस्तु धर्म कहते हैं।

शुद्ध स्वरूप सनातनो, निर्मल जे निःसंग हो मित्त ।
आत्म विभूति परिणम्यो, न करे ते परसंग हो मित्त ।।क्युँ।।३।।

अर्थः—हे मित्र ! प्रभु शुद्ध आत्म स्वरूप है, नित्य है, कर्म मल रहित एवं निसंग है । आत्मविभूति रूप स्वधर्म में परिणमन करने वाले तथा पर द्रव्य का कभी संग नहीं करने वाले ऐसे प्रभु से किस भांति मिला जावे ?

विशेषः—प्रभु कूटस्थ नित्यता से नित्य है इसलिये सनातन कहा है । प्रभु के असंख्य प्रदेशों में द्रव्य से कोई परमाणु मात्र नहीं रहा और भाव से जिसकी परिणति में राग द्वेष रूप कोई भाव नहीं रहा । इस भांति प्रभु को द्रव्य व भाव से निसंग जानना चाहिये ।

पण जाणुं आगम बले, मिलवुं तुम प्रभु साथ हो मित्त ।
प्रभु तो स्वसंपत्तिमयी, शुद्ध स्वरूप नो नाथ हो मित्त ।।क्युँ ।।४।।

अर्थः—आगम में कहा है और गुरुमुख से सुना है, इस बल से जानता हूं कि भव्य जीव का प्रभु से मिलना संभव है। प्रभु ज्ञानादि स्व सम्पत्ति व शुद्ध स्वरूप के स्वामी हैं । इसलिये वे तो किसी से मिलते नहीं हैं पर जिसको तीक्ष्ण रुचि हो वह अपनी आत्मसंपदा प्रगट करके प्रभु से अवश्य मिल सकता है ।

पर परिणामिकता अछे, जे तुझ पुद्गल योग हो मित्त।
जड चल जगनी एँठनो, न घटे तुझने भोग हो मित्त ।।क्यूं।।५।।

अर्थः—हे आत्मन् ! जो तेरे में परपरिणामिकता है वह पुद्गल के योग से है । अर्थात् अनादिकाल से पुद्गल का सहयोग होने से तेरे में पर-परिणामिकता ने घर कर लिया है किन्तु यह विजातीय है—दोषमय है । हे मित्र ! यह पुद्गल भोग तुझे घटता नहीं क्योंकि हंस कभी भी कचरे में चोंच नहीं डालता । यह पुद्गल जड़, नाशवान[1] और जगत की झूंटन है क्योंकि सारे संसारी जीवों ने प्रत्येक पुद्गल परमाणु को शरीर द्वारा, मन द्वारा, वाणी द्वारा, अनेक बार ग्रहण करके छोड़ा है ।

विशेषः—दूसरे व तीसरे पद में कहा गया है कि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य से नहीं मिलता और चौथे पद में स्वरूप रुचिवन्त जीव का प्रभु से मिलना संभव बताया गया है ।

१. नोट—पुद्गल की वर्णादिक स्कंधादिक पर्याय पलटती रहती है इसलिये चल नाशवान कहा है, यद्यपि द्रव्य रूप से नित्य है ।

इसका स्पष्टीकरण श्रीमद् ने इस प्रकार किया है: छ. द्रव्यो में (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल, ये चार द्रव्य तो किसी से मिलते नही। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परस्पर मिलते है, इसमें पुद्गल द्रव्य आपस मे मिल कर स्कन्ध रूप होता है और परानुयायी परिणमते संसारी जीव के प्रदेशो मे लगता है किन्तु मिथ्यात्वादिक हेतुओ से मुक्त सिद्ध परमात्मा के यह विजातीय पुद्गल परमाणु नही लग सकते, एक जीव से दूसरा जीव भी मिल नही सकता इसलिये साधक व प्रभु से मिलना सत्ता मे तो नहीं है। अब किस भांति मिला जावे ? श्रीमद् ने कहा है कि संसारी जीव का आत्मिक सुख अनादिकाल से ढका हुआ है तथा भोगधर्म क्षयोपशमी है, उसे कुछ न कुछ भोगना ही है, स्वरूप के न पाने से पुद्गल के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को भोगता है इससे परभोगी हो गया। परभोगी अपनी प्रभुता से परे है और स्वरूप भोगी अपनी प्रभुता में विराजमान है अत: सत्तागत ज्ञानादि गुणरूप प्रभुता का पाना ही प्रभु से मिलना है।

शुद्ध निमित्ती प्रभु ग्रही, करी अशुद्ध पर हेय हो मित्त।
आत्मालंबी गुण लही, सहु साधकनो ध्येय हो मित्त ॥क्युँ॥६॥

अर्थ:—पुद्गल भोगरूप अशुद्ध निमित्त को हेय जान कर पूर्णानन्द रूप शुद्ध निमित्ती प्रभु का अवलबन लेना चाहिये अर्थात् आत्मा के परानुयायीपन को मिटाने के लिये पहले अशुद्ध अवलंबन को त्याग कर वीतराग का अवलंबन लेना चाहिये। प्रभु अपने आत्मगुणों मे ही लीन है। इसलिये हे मित्र ! वे प्रभु सब ही साधको के ध्येय रूप है अर्थात् सम्यक् दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति श्रेणीवासी, ध्यानारूढ[1] इन सभी के आराध्य है।

---

१. श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने योग शास्त्र मे ध्यान के चार भेद कहे हैं:—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। योगशास्त्र मे पिंडस्थ ध्यान करने के लिये पांच प्रकार की धारणायें बतलाई गई है। उनके नाम यह है पार्थिव, आग्नेयी, मारुती वारुणी, और तत्वभू। इनका वर्णन योग शास्त्र में देखलेना चाहिये। चार धारणा करने के पश्चात् तत्वभू धारणा करना चाहिये इसमें सात धातु रहित, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल, सर्वज्ञ समान सिंहासनस्थ और सर्व अतिशयो से सुशोभित अपनी आत्मा का चिंतन करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर ध्यान करने वालो पर दुष्ट देवो तथा दुष्ट विद्याओं का कोई प्रभाव नही होता। (२) पवित्र मंत्र के पदों के अवलंबन से जो ध्यान होता है उसे पदस्थ ध्यान कहते है। (३) समवसरणस्थ अरिहंत व उनकी प्रतिमा का ध्यान रूपस्थ ध्यान है। (४) आकृति रहित, ज्ञानानंद स्वरूप, और कर्म रहित सिद्ध भगवान का ध्यान रूपातीत ध्यान कहाता है। इनमें पहले तीन धर्म ध्यान व चौथा, शुक्ल ध्यान है।

जिम जिनवर आलम्ब ने, वधे सधे एक तान हो मित्त।
तिम तिम आत्मालंबनी, ग्रहे स्वरूप निदान हो मित्त ॥क्युँ॥७॥

अर्थः—ऊपर के पद में बतलाई रीति से अभ्यास करते हुए साधक जैसे जैसे श्री जिनवर देव की तत्त्व प्रभुता का आलम्बन बढ़ाता है वैसे वैसे ही एकतानता बढ़ती है। एक निष्पन्न परमात्म स्वरूप में चेतना जैसे जैसे व्याप्त होती है वैसे वैसे ही वह साधक आत्म स्वरूप का आलम्बन लेता हुआ एक स्वरूप के मूल कारण को प्राप्त करता है।

स्व स्वरूप एकत्वता साधे पूर्णानन्द हो मित्त।
रमे भोगवे आतमा, रत्नत्रयी गुणवृंद हो मित्त ॥क्युँ॥८॥

अर्थः—स्व स्वरूप की एकाग्रता से परमतत्त्व के साथ जब एकत्व सधता है तो हे मित्र ! पूर्णानन्द रूप स्वाधीन आत्मसुख उत्पन्न होता है एवं आत्मा अपने ज्ञान दर्शन चारित्र में रमता हुआ अनन्त काल तक अपने गुण समूह को भोगता है।

अभिनन्दन अवलम्बने, परमानन्द विलास हो मित्त।
देवचन्द्र प्रभु सेवना, करी अनुभव अभ्यास हो मित्त ॥क्युँ॥९॥

अर्थः—इस भांति अभिनन्दन प्रभु के अवलम्बन से परमानन्द रूप अव्याबाध सुख प्राप्त होता है। देवचन्द्रजी कहते हैं कि अनुभव अभ्यास से प्रभुसेवना करनी चाहिये क्योंकि अनुभव युक्त सेवना ही शुद्ध स्वरूप प्रगट करने का परम उत्कृष्ट कारण है और शुद्ध स्वरूप प्रगट करना ही प्रभु से एकत्व मिलाप करना है।

पंचम श्री सुमति जिन स्तवन

कडखाकी देशी

अहो श्री सुमति जिन शुद्धता ताहरी, स्वगुण पर्याय परिणाम रामी।
नित्यता एकता अस्तिता इतर युत, भोग्य भोगी थको प्रभु अकामी ॥अ०॥१॥

अर्थ—हे सुमति जिन! आपकी शुद्धता आश्चर्यमय है, आप स्वगुण पर्याय रूप निज सम्पदा में रमण कर रहे है। हे प्रभु! नित्यता, एकता, अस्तिता तथा इनसे इतर अनित्यता, अनेकता, नास्तिता से आप युक्त है अर्थात् जो नित्य वही अनित्य, जो एक वही अनेक, जो अस्ति वही नास्ति इसलिए आश्चर्यमय है। गुण पर्याय रूप निज भोग्य के भोगी होते हुए भी हे प्रभु! आप अकामी है। क्योकि ज्ञानादि गुणो को भोगते हुये किसी प्रकार की कामना नही होती; पुद्गल भोगी को ही कामना होती है। नित्य अनित्य आदि विरोधी गुणो का प्रवर्त्तन किस प्रकार होता है यह अगले पद में बतलाते है।

ऊपजे व्यय लहे तहवि तेहवो रहे, गुण प्रमुख बहुलता तहवि पिंडी।
आत्मभावे रहे अपरता नवि ग्रहे, लोक प्रदेश मित पण अखंडी ॥अ०॥२॥

अर्थ:—हे प्रभु! आपकी शुद्धता कैसी अद्भुत है, जिस समय उत्पन्न होती है उसी समय व्यय होती है तो भी वैसी की वैसी रहती है-मूल ध्रुव धर्म नही छोड़ती अर्थात् उत्पन्न होना तथा नाश होना यह अनित्यता है और ध्रुव रहना यह नित्यता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, दान, लाभ, भोग इत्यादि बहुत से गुण आपमे है, ये सब गुण भिन्न भिन्न है इसलिए अनेकता है पर यह सब गुण कभी भिन्न क्षेत्री नही होते इसलिए अनन्त गुण पर्याय के एक पिण्ड रूप आप है—यह एकता है। प्रभु सदा आत्मभाव में रहते है, यह अस्ति धर्म है, अन्य द्रव्य का भाव कभी ग्रहण नही करते यह नास्ति धर्म है। चौदह राज लोक के जितने आकाश प्रदेश है, उतने आपके आत्म प्रदेश है अर्थात् असंख्यात प्रदेशरूप अवयवता है पर वह कभी भिन्न नही होती इसलिए अखंड है।

विशेष:—क्षायिक भाव से सब गुण की सामान्यता है परन्तु अगुरु लघु पर्याय का तारतम्य सदा रहता है इससे प्रदेश धर्म है अथवा सब गुण पर्याय तुल्य विभाग से असंख्यात प्रदेशरूप से विभक्त है पर कभी भी पृथक रूप से खंडित नही होते इसलिये अखंड है अर्थात् असंख्य प्रदेश रूप अवयवता है परन्तु कभी भी पृथक नही होती, यह आश्चर्य है।

कार्य कारण पणे परिणमे तहवि ध्रुव, कार्य, भेदे करे पण अभेदी।
कर्तृता परिणमे'नव्यता नवि रमे, सकल वेत्ता थको पण अवेदी ॥अ०॥३॥

अर्थ :– हे प्रभु ! आपके ज्ञानादि गुण कार्य रूप से परिणमते है, इसमे उत्पाद् व्यय है और गुण का अभाव नही होता यह ध्रुव धर्म है। इस भांति नित्यता अनित्यता इन दोनों विरोधी धर्मों का होना आश्चर्यमय है। दर्शन गुण देखने रूप कार्य करता है, समकित निर्धार रूप कार्य करता है एवं चारित्र स्थिरता रूप कार्य करता है, यह भेद स्वभाव है। इन सब गुणों के कार्य की भिन्नता होने से द्रव्य एवं क्षेत्र पृथक नही होता इसलिये अभेद रूप है। प्रभु अपने कर्तृत्व में परिणमते हैं किन्तु कुछ भी नवीनता नही करते क्योंकि अपने अस्ति धर्म में ही रहते है। यह आश्चर्यमय अस्ति नास्ति धर्म है। सब द्रव्यो के गुण पर्याय स्वभाव के वेत्ता होते हुये भी, वचन धर्म से अवेदो है।

विशेष :—जीव के गुण ही उपादान कारण है जो कार्य रूप होते है। कारण बिना कार्य नही होता तथा जैन श्रद्धानुसार कारण भाव तथा कार्य भाव ये दोनों एक समय ही होते है। बाह्य–उत्पन्न कारण व कार्य में भी जब एक कालता है तो सहज अकृत्रिम कारण कार्यता एक समय होनी ही चाहिये। जीव का केवल ज्ञान गुण सबको जानता है। सबको जानना यह कार्य है और ज्ञान गुण का जानने की रीति से प्रवर्तन करना यह कारण है; जिस समय कारण कार्य रूप से परिणमता है उसी समय ज्ञान गुण रूप से सदा ध्रुव रहता है। इसी भाति दर्शनादि अनन्त गुणो का भी परिणमन है।

शुद्धता बुद्धता देव परमात्मता, सहज निज भाव भोगी अयोगी।
स्वपर उपयोगी तादात्म्य सत्ता रसी, शक्ति प्रयुंजतो न प्रयोगी ॥अ०॥४॥

अर्थ :—हे प्रभो ! पुद्गल की संकरता रहित आपकी शुद्धता है, ज्ञान दर्शन रूप बुद्धता है, स्वरूप रमणता रूप देवत्व है एवं ज्ञानावर्णादि कर्म रहितता रूप परमेश्वरत्व है। हे प्रभो ! आप मन, वचन और काय से रहित अयोगी, अशरीरी होने पर भी अपने सहज भाव से अनन्त आत्म सुखो को भोगते है, स्वपर समस्त पदार्थों के ज्ञाता द्रष्टा होने पर भी केवल आत्म धर्म के ही रसिक है अर्थात् उसी के भोक्ता है। हे देव ! आपमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, परिणामिकत्व आदि अनन्त शक्तियों का प्रवर्तन होते हुये भी आप अयोगी है क्योकि आपको किसी भी प्रकार का प्रयास नही करना पड़ता, इन सब शक्तियो का प्रवर्तन बिना प्रयत्न किए स्वतःसहज रूप से होता है।

वस्तु निज परिणते सर्व परिणामिकी, एटले कोई प्रभुता न पामे ।
करे जाणे रमे अनुभवे ते प्रभु, तत्त्व सामित्व शुचि तत्त्वधामे ।।अ०।।५।।

अर्थः—समस्त वस्तुयें निज परिणति में परिणमती हैं परन्तु इतने मात्र से किसी को प्रभुता प्राप्त नही होती क्योंकि यह तो सामान्य गुण है, इसमें क्या अधिकता है ? जो निज धर्म को कर्ता रूप से करे, वस्तुमात्र को जाने, निज गुणों में रमण करे, आत्मस्वभाव को भोगे—अनुभव करे, वे प्रभु कहलाते हैं । तत्त्वरूप मूल वस्तु धर्म का स्वामित्व एवं पवित्र तत्वधाम रूप निष्पन्न सिद्ध अवस्था ही वास्तविक परमेश्वरत्व है ।

विशेषः—अजीवादि पांचों द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रुव रूप से परिणमते हैं किन्तु वे कर्ता नही हैं, केवल जीव द्रव्य कर्ता है । उसका कारण यह है कि दूसरे सब द्रव्यों का धर्म प्रत्येक प्रदेश में है तथा एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश की सहायता नही है अर्थात् सामुहिक प्रवर्तन नही है । जीव द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त धर्म हैं और वे धर्म उस प्रदेश में रहते हुये प्रवृत्ति करते है किन्तु उन सब प्रदेशों के समुदायकी सामुहिक प्रवृत्ति है इसलिये जीव द्रव्य कर्ता है और यह कर्त्तापन ईश्वरत्व है । यों तो सारे जीव सत्ता से परम गुणी है किन्तु जिनके गुण प्रगट हुए हों उनको ही पूज्य जानना चाहिए; वे ही प्रभुतामय हैं ।

जीव नवि पुग्गली[1] नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी ।
परतणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तु धर्मे कदा न परसंगी ।।अ०।।६।।

अर्थः—जीव कभी भी पुद्गली नही है । यद्यपि वह अनन्त काल से पुद्गल के संग रहा है पर कभी पुद्गल रूप नही हुआ । जीव पुद्गल का आधार भी नहीं है क्योंकि आधार रूप क्षेत्री द्रव्य तो आकाश है जीव के प्रदेशो में पुद्गल का वास उसकी भाव अशुद्धता के कारण से है किन्तु वस्तु धर्म से जीव पुद्गल का रंगी नहीं है । यद्यपि स्वधर्म के आस्वादन बिना यह पुद्गल का रंगी हो गया है परन्तु यह आत्मा कभी भी परभाव का स्वामी नही है, परभाव में इसका ईश्वरत्व नहीं है और वस्तु धर्म से यह आत्मा कभी भी पर वस्तु का साथी नही है (यह सब जीव द्रव्य का सत्ता धर्म है) ।

संग्रहे नहीं आपे नहीं परभणी, नवि करे आदरे न पर राखे ।
शुद्ध स्याद्वाद निज भाव भोगी जिके, तेह परभावने केम चाखे ।।अ।।७।।

---

१ पुद्गली ।

अर्थ :—प्रभु पर-वस्तु का संग्रह नहीं करते, पर-वस्तु किसी को देते नहीं, पर-वस्तु करते नहीं, परवस्तु आदरते नहीं, पर वस्तु परिग्रह रूप से रखते नहीं; प्रभु तो शुद्ध स्याद्वाद रूप ज्ञानादि भावों के भोगी हैं। वे रागादिक अथवा पुद्‌गल के वर्णादिक पर-भाव को किस प्रकार भोग सकते हैं ?

भगवान् अन्य जीव को मुक्ति नहीं देते हैं तो फिर उनकी स्तुति क्यों की जावे ? इसके उत्तर में महान् तत्व वेत्ता श्री देवचन्द्रजी कहते हैं—

ताहरी शुद्धता भास आश्चर्य थी, ऊपजे रुचि तेणे तत्त्व ईहे।
तत्त्वरंगी थयो दोष थी उभग्यों, दोष त्यागे ढले तत्व लीहे ॥अ०॥८॥

अर्थः—हे प्रभु ! आपकी शुद्धता का अर्थात् अनन्त गुण प्राग्‌भावता का जैसे जैसे भासन होता है वैसे वैसे ही आश्चर्य होता है और अपने में भी ऐसी दशा प्रगट करने की रुचि उत्पन्न होती है। तत्व की ईहा-इच्छा करने से तत्व का रंग प्रगट होता है, जैसे जैसे यह जीव तत्व का रंगी होता है वैसे वैसे ही राग द्वेषादि अठारह पाप स्थानक से निवृत्त होता है। इस भांति दोषों के त्याग से वह अपने स्वरूप में ढलकर तत्व को प्राप्त करता है—स्वभाव परिणामी हो जाता है।

शुद्ध मार्गे वध्यो साध्य साधन सध्यो, स्वामि प्रतिछंदे सत्ता आराधे।
आत्म निष्पत्ति तेम साधना नवि टके, वस्तु उत्सर्ग आतम समाधे ॥अ०॥६॥

अर्थः—पिछले पद में बतलाई गई रीति से स्वभाव परिणामी होकर यह जीव शुद्ध मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ता हुआ परमात्म भाव रूप निज साध्य के उपाय करते हुये, श्री सुमति नाथ प्रभु के समान जो अपनी मूल सत्ता है उसको उत्पन्न करे। ज्यों ज्यों आत्म गुण उत्पन्न होते हैं, साधना रूप कारणता नहीं टिकती। जीव पदार्थ जब उत्सर्ग रीति से आत्म समाधि रूप परमानंद प्राप्त कर लेता है तो साधना का अंत हो जाता है।

विशेष :—जो वस्तु कार्य को सम्मुख लावे वह कारणता है, कार्य होने पर कारणता नहीं रहती क्योंकि कारणता वस्तु धर्म नहीं है।

माहरी शुद्ध सत्ता तणी पूर्णता, तेहनो हेतु प्रभु तुंही साचो।
देवचन्दे स्तव्यो मुनि गणें अनुभव्यो, तत्व भक्के भविक सकल राचो ॥अ०॥१०॥

अर्थः—हे प्रभु ! मेरी शुद्ध आत्मा सत्ता की पूर्णता के आप ही सच्चे निमित्त कारण हैं। मुनि लोगों ने आपके गुणों का अनुभव किया है। देवचन्द्र मुनि आपकी स्तवना करता है और आत्मार्थी जनों को कहता है कि प्रभु की तत्वरूप भक्तिगुण बहुमानता पर आप सब मग्न होवें।

षष्ठ श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

हुँ तुज आगल शी कहुँ केशरिया लाल

श्री पद्मप्रभ जिन गुण निधि रेलाल, जग तारक जगदीश रे ।।वालेसर।।
जिन उपगार थकी लहे रे लाल, भविजन सिद्धि जगीश रे ।। वा० ।।१।।

तुज दरिसण मुज वालहोरे लाल, दरिसण शुद्ध पवित्र रे ।। वा० ।।
दरिसण शब्द-नयें करी रे लाल, संग्रह एवंभूत रे ।।वा०तु० ।।२।।

श्री पद्मप्रभ भगवान गुणों के निधान हैं, मोक्षार्थियों के तारक हैं, जगत के स्वामी हैं। भगवान के उपकार से भव्य जीव मोक्षरूप सम्पदा पाते हैं। हे प्रभो! आपका दर्शन मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है (दर्शन शब्द के तीन अर्थ हैं) (१) दर्शन में कारणरूप प्रभु मुद्रा का दर्शन (२) उत्कृष्ट कारण रूप से वीतराग का शासन (३) उपादान कारण रूप से सम्यक् दर्शन—सम्यत्व। हे प्रभो! तत्व रुचिरूप आपका दर्शन अत्यन्त शुद्ध है, पवित्र है क्योकि इसके द्वारा आत्मा मोह मल्ल से रहित होता है। हे भगवन्! जब आपका शब्द नय द्वारा दर्शन होता है तो यह जीव संग्रह नय से एवंभूत हो जाता है।

विशेषः—संग्रहनय से सब जीव सिद्ध समान हैं किन्तु जब व्यक्ति अपने कर्म आवरण को क्षय करके सिद्धता प्राप्त करता है तब एवंभूत सिद्ध होता है इस कारण संग्रह से एवंभूत होना कहा गया है। वस्तु की सत्ता को ग्रहण करने वाला संग्रहनय है तथा वस्तु के अर्थ रूप से परिणमन करने वाला भाव निक्षेप रूप वेद्यसंवेद्य पद शब्दनयहै और सकल पर्याय पारिणामिकता अर्थात् प्रगट रूप से सम्पूर्ण वस्तु वह एवंभूत नय है।

श्रीमद् देवचन्द्र जी महाराज ने यहा संक्षेप में नय का स्वरूप भी कहा है:-

(१) चक्षु इन्द्रिय द्वारा प्रभु मुद्रा को देखना नैगमनय से प्रभु दर्शन है इसमें उपयोग अन्य कार्य का रहता है तथा मन, वचन व काया के योग भी चपल होते हैं।

(२) मैं सत्ता से प्रभु समान हूँ, साधना करूं तो सिद्धि प्राप्त कर सकता हूँ। इस दृष्टि से देखने को संग्रह नय से प्रभु दर्शन कहते हैं।

(३) आशातना टालते हुए प्रभु मुद्रा व प्रभु शरीर को देखना, वन्दना, नमस्कार करना व्यवहार नय से प्रभु दर्शन है।

(४) सब इन्द्रियों की चपलता मिटाकर हर्ष सहित प्रशस्त राग की मुख्यता से प्रभु का दर्शन करना, एकाग्रता पूर्वक स्तवना करना- ऋजुसूत्र नय से प्रभु दर्शन है।

(५) आत्म सत्ता प्रगट करने के लिए साध्य रुचिवन्त होकर प्रभुता का तत्व सम्पदा रूप अवलोकन शुद्ध नय से प्रभु दर्शन है। यहां प्रभु मुद्रा एवं शरीर की उपेक्षा नहीं है, इस रीति से जो प्रभु का दर्शन करता है वह निश्चय-स्वसत्ता प्रगट करता है।

बीजे वृक्ष अनन्तता रे लाल, प्रसरे भूजल योग रे ॥वा०॥
तिम मुझ आतम संपदारे लाल, प्रगटे प्रभु संयोग रे ॥वा० तु०॥३॥

अर्थः—बीज में अनन्त वृक्ष उत्पन्न करने की योग्यता शक्ति रूप से है, यदि जमीन और जल का संयोग मिले तो वृक्ष उगते हैं। वैसे ही मेरी आत्म संपदा सत्ता रूप में है किन्तु निमित्त रूप शुद्ध स्वरूपी प्रभु का संयोग मिलने से वह सम्पदा प्रगट हो सकती है।

जगत जन्तु कारज रुचि रे लाल, साधे उदये भाण रे ॥वा०॥
चिदानंद सुविलासतारे लाल, वाधे जिनवर झाण रे ॥वा० तु०॥४॥

अर्थः—जिस प्रकार जगतवासी जीव आहार विहार रूप कार्य के अभिलाषी हैं पर सूर्य का उद्योत रूप निमित्त कारण मिलने से यह कार्य सधता है उसी प्रकार ज्ञानानन्द का सुभोग श्री जिनवर के दर्शन से प्रगट होता है। यद्यपि उपादान है किन्तु प्रभु जैसा निमित्त मिलने से चिदानंद सुविलासता रूप कार्य सिद्ध होता है।

लब्धि सिद्ध मन्त्राक्षरे रे लाल, उपजे साधक संग रे ॥वा०॥
सहज अध्यातम तत्वता रे लाल, प्रगटेतत्वीरंग रे ॥वा० तु०॥५॥

अर्थः—जैसे आकाशगामिनी प्रमुख लब्धियों की सिद्धि मंत्राक्षरों में है किन्तु वैसे साधक के मिलने से सिद्धि होती है वैसे ही आध्यात्मिक तत्वता स्वाभाविक रूप से आत्मा में है किन्तु वह वैसे ही तत्वरंगी का योग मिलने से सिद्ध होती है।

लोह धातु कांचन हुवे रे लाल, पारस फरसन पामि रे ॥वा०॥
प्रगटे आध्यात्म दशा रे लाल, व्यक्तगुणी गुणग्राम रे ॥वा०तु०॥६॥

अर्थः—लोह धातु पारस मणि के स्पर्श से स्वर्ण हो जाता है वैसे ही

आत्मा की अध्यात्म दशा व्यक्तगुणी अरिहन्तदेव के गुण ग्राम करने से गुणानुयायी होकर संपूर्ण गुण प्राप्त करती है।

विशेष:—कोई शंका करे कि "निमित्त बिना सिद्धि क्यों नहीं?" तो उसका समाधान यह है कि जैसे पुद्गल का निमित्त पाकर जीव अनादिकाल से कर्म बन्ध करता है वैसे ही शुद्ध स्वरूपी अरिहंत देव का निमित्त पाकर कर्म पुद्गल से मुक्त होता है।

आत्मसिद्धि कारज भणी रे लाल, सहज नियामक हेतु रे ।।वा०।।
नामादिक जिन राजना रे लाल, भव सागर महा सेतु रे ।।वा० तु०।।७।।

अर्थ:—आत्मसिद्धि रूप कार्य के लिए श्री वीतरागदेव सहज निश्चित कारण हैं, जिनराज के नामादिक चारो ही निक्षेप भव समुद्र में पुल के समान है।

विशेष:—(१) जिनराज का नाम स्मरण करके अनेक जीवों ने गुणानुयायी होकर सिद्धि पाई है।

(२) विषय विकार रहित प्रशम रसपूर्ण अरिहन्तदेव की स्थापना रूप मुद्रा को देखकर स्वगुणानुलम्बी अनेक जीव सिद्ध हुये हैं।

(३) शरीर धारी जिनराज का उपदेश एवं समवसरण देखकर अद्भुतता के अवलम्वनसे गुणानुलम्बी होकर अनेक जीवों ने परम प्रभु का द्रव्य निक्षेप विचारते हुये स्वसंपदा पाई है।

(४) भाव निक्षेप से अरिहन्त प्रभु के ज्ञानादि गुण के भासन, श्रद्धान तथा रमण से अनेक जीवों ने मोक्ष लक्ष्मी पाई है इसलिये प्रभु के चारों ही निक्षेप महान उपयोगी हैं।

स्थंभन इन्द्रिय योगनो रे लाल, रक्त वर्ण गुणराय रे ।।वा०।।
देवचन्द्र वृंदे स्तव्यो रे लाल, आप अवर्ण अकायरे ।।वा० तु०।।८।।

गुणराय पद्मप्रभ स्वामी का रक्त वर्ण, ध्याता की इन्द्रियों तथा मन वचन काया के योगों का स्तंभन करने वाला है।

देवचन्द्रजी कहते है—'मुनिजनों ने अनेक भांति से प्रभु की स्तवना की है। शरीर रक्त वर्ण का था पर स्वयं तो वर्ण, गंध, स्पर्श रहित अकाय है।

सप्तम श्री सुपार्श्व जिन स्तवनं

हो सुन्दर तप सरिखो जग को नहीं

श्री सुपास आनन्द में, गुण अनन्तनो कन्द हो ॥जिनजी॥
ज्ञानानन्दे पूरणो, पवित्र चारित्रानन्द हो ॥जि० श्री०॥१॥

अर्थः—श्री सुपार्श्व जिन आनन्दमय हैं, अनन्तगुणों के कन्द हैं, ज्ञानानन्द से परिपूर्ण पवित्र एवं स्थिरता रूप चरित्रमय हैं।

बिशेषः—श्रीमद्‌ने स्तवन के आदि में बड़ी मार्के की बात कही है। वे कहते हैं कि भगवती सूत्र में सिद्धों को अवीर्या तथा अचारित्रीया कहा है किन्तु अनुयोग द्वार के क्षायिक लब्धि अधिकार में तथा पन्नवणा सूत्र में वीर्य को जीव का लक्षण कहा है। इसका मर्म यह है कि करण रूप चल वीर्य की अपेक्षा सिद्ध भगवान अवीर्य हैं तथा प्रवृत्ति रूप चरित्र की अपेक्षा अचारित्रिया है किन्तु स्थिरता रूप चरित्र तो सिद्धोमें हैं क्योंकि उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवें अध्याय में इसे जीव का लक्षण कहा है।

संरक्षण विण नाथ छो, द्रव्य बिना धन वन्त हो ॥जि०॥
कर्त्ता पद किरिया बिना, सन्त अजेय अनन्त हो ॥जि० श्री०॥२॥

अर्थः—हे प्रभु! आप किसी के द्रव्य की रक्षा नहीं करते तो भी नाथ कहाते हैं क्योंकि शरण त्राण के आधार रूप मोक्ष के हेतु हैं। धन कंचन से रहित हैं फिर भी धनवान हैं क्योंकि ज्ञानरूप धन आपके पास है। गमन परिसर्पण रूप क्रिया रहित हैं तो भी कर्त्ता हैं क्योंकि निज परिणति में परिणमन करते हैं। संत हैं क्योंकि तप्त परिणाम से रहित हैं, अजेय हैं, क्योंकि रागद्वेष रूपशत्रुओं से अजेय हैं। अनन्त हैं क्योंकि विनाश रहित हैं।

अगम अगोचर अमर तुं, अन्वय ऋद्धि समूह हो ॥जि०॥
वर्ण गंध रस फरस विणु, निज भोक्ता गुण व्यूह हो ॥जि० श्री०॥३॥

अर्थः—हे प्रभु! आप अगम हैं क्योंकि बुद्धि द्वारा आपका स्वरूप जाना नहीं जा सकता। इन्द्रियों से अगोचर हैं, अमर हैं, सहज गुण रूप अन्वय ऋद्धि के समूह हैं (ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्यादिक गुणों को अन्वयी गुण कहते हैं तथा कषायादिक दोषों के नाश से जो अकाषायादिक गुण उत्पन्न होते हैं वह व्यतिरेक गुण कहाते

हैं—जैसे वीतराग, वीतमोह, वीतभय, करुणामय, क्षमावान, कृपावन्त आदि)।

अक्षय दान अचिन्तना, लाभ अयन्तें भोग हो ॥जि०॥
वीर्य शक्ति अप्रयासता, शुद्ध स्वगुण उपभोग हो ॥जि० श्री०॥४॥

अर्थ :—हे प्रभु ! आप स्वगुण सहाय रूपदान अक्षय रूप से प्रति समय देते हैं और यह सहायता रूप शक्ति अन्य गुण को प्राप्त होती है; इस अचिन्त्य लाभ के आप स्वामी है। स्वपर्याय को बिना प्रयास भोगते है, यह अयत्न भोग आपको है। सब गुणों की प्रवृत्ति में सहायक वीर्य गुण की स्फुरणा आपमें बिना प्रयास हो रही है और शुद्ध गुणों का उपभोग आप कर रहे हैं; इस भाति अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियों के क्षय होने से यह पांच गुण आप में प्रगट हुये हैं।

विशेष :—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की प्रवृत्ति किस भांति है वह इस पद में बतलाया गया है। वीर्य सब गुणों को सहकार देता है। ज्ञान गुण के उपयोग बिना वीर्य की स्फुरणा नही हो सकती, इससे वीर्य को ज्ञान की सहायता है तथा ज्ञान में रमण यह चरित्र की सहायता है। पर–रमण न करना यह चरित्र को ज्ञान की सहायता है, इस प्रकार एक गुण को अन्य गुणो की सहायता है। जो गुण सहायता देता है उसमें दान धर्म है एवं जो गुण सहायता रूप शक्ति पाता है, वह उसको लाभ है। स्वयर्याय का भोग एव स्वगुण का उपभोग है।

इस भांति अन्तराय कर्म के क्षय होने से प्रभु में अनंत दान लब्धि, अनंतलाभ लब्धि, अनंत वीर्य लब्धि, अनंत भोग लब्धि एवं अनंत उपभोग लब्धि का निज स्वरूप में प्रबर्तन है।

श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक ८३९–३ में लिखते[१] हैं "क्षायिक भाव की दृष्टि से देखने पर ऊपर कहे प्रमाण इन लब्धियों का परम पुरुष को उपयोग रहता है। यह पांच लब्धि हेतु विशेष से समझाने के लिये ही भिन्न भिन्न बताई गई है, नही तो अनन्त वीर्य लब्धि में भी इन पांचों का समावेश हो सकता है। आत्मा सम्पूर्ण वीर्य के सम्प्राप्त होने से इन पांच लब्धियों का उपयोग पुद्गल द्रव्य रूप से करे तो वैसा सामर्थ्य भी उसमें बर्तता है तथापि कृतकृत्य परम पुरुष में सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव होने से वह उपयोग उनसे संभव नही है और उपदेशादि में दान रूप से जो उन कृत कृत्य परम पुरुष की प्रवृत्ति है, वह योगाश्रित पूर्व वंध के उदय होनेसे ही है। आत्म स्वभाव के किञ्चत् भी विकृत भाव से नहीं है।"

एकांतिक आत्यंतिको, सहज अकृत स्वाधीन हो ॥जि०॥
· निरुप चरित निर्द्वन्द सुख, अन्य अहेतुक पीन हो ॥जि०॥श्री०॥५॥

अर्थ :—जिस सुख में दुःख का लेश भी न हो उसको एकांतिक सुख, जिस सुख से बढ़ कर कोई सुख न हो उसे अत्यंतिक सुख, स्वाभाविक सुख को सहज सुख, किसी के द्वारा न किया गया हो उसे अकृत सुख, पर की अपेक्षा न हो उसे स्वाधीन सुख कहते हैं यह सब सुख प्रभु में हैं। आरोप को उपचार कहते हैं जिस सुख में कोई उपचार न हो वह निरुपचरित्र सुख है (साता वेदनी के उदय से उत्पन्न हुआ सुख उपचार सुख है क्योंकि साता में सुख धर्म नहीं है, अज्ञान से संसारी जीव उसे सुख मानते हैं) जिसमें अन्य द्रव्य का संयोग न हो उसे निर्द्वन्द सुख कहते है, जिस सुख में अन्य कोई द्रव्य कारण भूत न हो ऐसा प्रबल सुख प्रभु में है।

एक प्रदेशे ताहरे, अव्याबाध समाय हो ॥जि०॥
तसु पर्याय अविभागता, सर्वाकाश न माय हो ॥जि०॥श्री॥६॥

अर्थ:—हे प्रभु ! आपके एक एक प्रदेश में जो अव्यावाध सुख समाया हुआ है, वह अनन्त है। लोकाकाश तथा अलोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में सुख के एक एक अविभाग को रखा जावे तो भी वह सुख सारे आकाश में नहीं समा सकता है अर्थात् आकाश के प्रदेशों से आपके प्रत्येक प्रदेश में रहे हुये सुख के अविभाग अनन्त गुणें हैं; तात्पर्य यह है कि "क्षेत्र धर्न से भाव धर्म सदा अनन्त गुणा होता है।"

विशेष :—आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। आत्मा की जो भेद व्याख्या की जाय तो प्रत्येक प्रदेश में अनन्त गुण अनन्त पर्याय है। एक एक गुण में अनन्त अविभाग हैं—केवली भगवान की प्रज्ञा से जिसके एक खण्ड के दो खण्ड न हो उसको अविभाग कहते हैं। एक एक अविभाग में अनन्त पर्याय हैं ऐसी व्याख्या कम्मपयडी में है तथा उन्हीं अविभाग तथा पर्याय की एकता भी भगवती टीका में कही है। संक्षेप व्याख्या से गुण पर्याय दोनों को एक पर्यायास्तिक[1] भी कहा है।

पं० श्री सुखलालजी संघवीने प्रमाण मीमांसा पृष्ट ५६ में कहा है।

"भगवती आदि प्राचीनतर आगमों में गुण और पर्याय दोनों शब्द देखे जाते हैं। उत्तराध्ययन (२८.१३) में उनका अर्थ भेद स्पष्ट है। कुन्दकुन्द, उमास्वाति (तत्वार्थ० ५.३७) और पूज्य पादने भी उसी अर्थ का कथन एवं समर्थन किया है। विद्यानन्द ने भी अपने तर्कवाद से उसी भेद का समर्थन किया है पर विद्यानन्दों के पूर्ववत अकलङ्कने गुण और पर्याय के अर्थों का भेदाभेद बतलाया है जिसका अनुकरण अमृतचन्द्र ने भी किया है और वैसा ही भेदाभेद समर्थन तत्वार्थ भाष्यकी टीका में सिद्धसेन ने भी किया है। इस बारे में सिद्धसेन दिवाकर

एम अनंत गुणनो धणी, गुण गुणनो आनंद हो ॥ जि० ॥
भोग रमण आस्वाद युत, प्रभु तुं परमानंद हो ॥ जि० ॥ श्री ॥ ७ ॥

अर्थः—इस प्रकार हे प्रभु ! आप अनंत गुणों के स्वामी हैं, इन पृथक्-पृथक् गुणों का आनन्द भी जुदा जुदा है। इन सब गुणों का भोग भी है क्योंकि भोगे बिना आनन्द नहीं होता। वैसे ही सब गुणों का रमण और आस्वाद भी है इसलिये हे प्रभु ! आप परमानन्द हैं [यहां गुण गुणी के अभेद उपचार से कहा है जो परमानंदमय वही परमानंद ऐसे परमदेव हैं]।

विशेषः—सहभावी धर्म को गुण तथा क्रमोपभावी धर्म को पर्याय कहते हैं, गुण में अन्य गुण नहीं होता, पर्याय होती है। यदि गुण में अन्य गुण हो जाय तो

का एक नया प्रस्थान जैन तत्वज्ञान में शुरू होता है जिनमें गुण और पर्याय दोनों शब्दों को केवल एकार्थक ही स्थापित किया है और कहा है कि वे दोनों शब्द पर्याय मात्र हैं। दिवाकर की अभेद समर्थक युक्ति यह कि आगमों में गुणपद का यदि पर्याय पद से भिन्न अर्थ अभिप्रेत होता तो जैसे भगवान ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार से देशना की है वैसे वे तीसरी गुणार्थिक देशना भी करते। जान पड़ता है इसी युक्ति का असर हरिभद्र पर पड़ा जिससे उसने भी अभदेवाद ही मान्य रक्खा। यद्यपि देवसूरि ने गुण पर्याय दोनों के अर्थभेद बतलाने की चेष्टा की (प्रमाण-नं० ५.७,८) है फिर भी जान पड़ता है उनके दिलपर भी अभेदवाद का ही प्रभाव है। आ० हेमचन्द्र ने तो विषय लक्षण सूत्र में गुण पद को स्थान ही नहीं दिया और न गुण-पर्याय शब्दों के अर्थ विषयक भेदा भेद की चर्चा ही की। इससे आ० हेमचन्द्र का इस बारे में मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि वे भी अभेद के ही समर्थक हैं। उपाध्याय यशोविजयजीने भी इसी अभेद पक्ष को स्थापित किया है। इस विस्तृत इतिहास से इतना कहा जा सकता है कि आगम जैसे प्राचीन युग में गुण-पर्याय दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे होंगे। तर्क युग के आरम्भ और विकास के साथ ही साथ उनके अर्थ विषयक भेद-अभेद की चर्चा शुरू हुई और आगे बढी। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इस विषय में अपना भिन्न-भिन्न दृष्टि विन्दु प्रकट किया और स्थापित भी किया"।

"गुण-पर्याय के जिस भेदा भेद की स्थापना एवं समर्थन के वास्ते सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैन तार्किकों ने अपनी कृतियों में खासा पुरुषार्थ किया है उसी भेदा-भेद वाद का समर्थन मिमांसक धुरीण कुमारिल ने भी बड़ी स्पष्टता एवं तर्कवाद से किया है—श्लोकवा० आकृ० श्लो० ४—६४; वन० श्लो० २१—८०"

फिर वह गुण, गुण न रह कर द्रव्य हो जावे। आत्मा में अनंतगुण हैं एवं गुण गुण का सुख भी पृथक्-पृथक् है तथा अव्यावाध सुखरूप आत्म धर्म जुदा है, एक यह व्याख्या है। दूसरी व्याख्या यह है कि ज्ञान, दर्शन, रूप मूल गुण है एवं वीर्यादि सब उन गुणों की प्रवृत्ति रूप धर्म हैं। तीसरी यह व्याख्या है कि ज्ञान, दर्शन, चरित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग इत्यादि अनंतगुण आत्मा में हैं इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्या ये हैं, इनसे मति विभ्रम टालकर शुद्ध श्रद्धा रखनी चाहिये। यहां अरिहंत देव की विशेष पहचान के लिये एवं गुणकी पृथक् पृथक् व्याख्या जानने के लिये उनके भिन्न भिन्न धर्म कह कर स्तवना की है।

अव्याबाध रुचि थई, साधे अव्याबाध हो ॥ जि० ॥
देवचन्द्र पद ते लहे, परमानन्द समाध हो ॥ जि० ॥ श्री ॥ ८ ॥

अर्थः—जिसको अव्याबाध सुख प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न होती है, वह संत चरण का आश्रय लेकर अव्याबाध सुख की साधना करता है। वह जीव स्वरूपालंबन करते हुये स्वरूप में एकत्व पाकर, क्षपक श्रेणी में आरोहण करता है और घनघाति कर्मों को खपाकर, सयोगी केवली हो जाता है फिर शैलेशीकरण करके कर्म रहित हो जाता है। श्री देवचन्द्रजी कहते हैं—'धर्मदेव–साधुओं में चन्द्रमा समान वह जीव सिद्ध पद प्राप्त करता है, जिसमें परमानंद की समाधि है।"

विशेषः—सकर्म अवस्था महान व्याधि है और निरावरण अवस्था परम समाधि है। श्री सुपार्श्व प्रभु के अवलंबन से जीव कर्म मल रहित अवस्था को पाता है इसलिये इन प्रभु की सेवना सदा करना चहिये।

अष्टम श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन

(श्री श्रेयांस जिन अन्तरजामी ।। ए देशी)

श्री चन्द्रप्रभ जिनपद सेवा, हेवाये जे हलियाजी ।
आतम गुण अनुभव थी मलिया, ते भव भय थी टलिया जी ।। श्री ।। १ ।।

अर्थः—चन्द्रप्रभु स्वामी की चरण सेवना विधि की जिनको टेव पड़ गई है, वे आत्मगुणो का अनुभव करते है, उन्हे भोगते हैं और चार गति रूप संसार के भय से मुक्त होजाते है ।

द्रव्य सेव वन्दन नमनादिक, अर्चन वली गुण ग्रामो जी
भाव अभेद थावानी ईहा, परभावे निष्कामो[1] जी ।। श्री० ।। २ ।।

अर्थः—अरिहत देव के चार निक्षेप रूप कारण को देखकर, सुनकर और स्मरण करके प्रभु का वन्दन, नमन, करजोड़न, चन्दन पुष्पादि द्वारा अर्चन तथा मुख से गुण ग्राम करना द्रव्य सेवा है । जिस द्रव्य सेवा मे प्रभु से अभेद रूप होने की ईहा-ईच्छा हो, परभाव—धन सम्पत्ति राज्य स्वर्ग की कामना न हो, वह द्रव्य सेवा उपयोगी है ।

विशेष.—(१) सेवना चार प्रकार की होती है । १ नाम सेवना, २ स्थापना सेवना, ३ द्रव्य सेवना, और भावसेवना; इसमे नाम और स्थापना यह दो सेवना सुगम है इसलिये इनकी व्याख्या नही की गई है । इस पद मे द्रव्य सेवना का स्वरूप कहा गया है । (२) बाह्य प्रवर्तन को द्रव्य निक्षेप जानना चाहिये । भावरुचि विना द्रव्य प्रवृत्ति बाल लीला के समान है इसलिये यहा भाव से अभेद होने की ईहा सहित सेवा को द्रव्य सेवा कही है । भाव धर्म मुख्य है द्रव्य बिना भी भाव गुणकारी है पर भाव साध्य रुचि विना अकेला द्रव्य काम का नही ।

भाव सेव अपवादे नैगम, प्रभु गुणने सकल्पे जी ।
संग्रह सत्ता तुल्यारोपे, भेदाभेद विकल्पे जी ।। श्री । ३ ।।

अर्थः—संकल्प[2] को विषयादिक से हटाकर प्रभु गुण मे लगाने को नैगमनय से अपवाद भाव सेवना जानना चाहिबे । प्रभु के समान अपनी सत्ता विचारे—दोनों का

---

१. निःकामोजी । २. नैगमनय नाम संकल्प आरोप आदि अनेक अङ्गों को ग्रहण करता है यहां केवल संकल्प को ग्रहण किया है ।

तुल्यारोपण करे अर्थात् सत्ता रूप से मैं भी प्रभु के समान हूँ किन्तु इस समय द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से भेद है; इस प्रकार भेद अभेद के विकल्प को सापेक्ष रूप से जान कर सत्ता प्रगट करने की रुचि को संग्रह नय से अपवाद भाव सेवा जानना चाहिये।

विशेष:—जिसके आगे कोई दूसरी अवस्था न हो उसे उत्सर्ग कहते हैं उस उत्सर्ग को उत्पन्न करने के लिये कारण रूप से जो मार्ग अंगीकार किया जाय वह अपवाद है। यहां सेवा में जितना आत्म साधन प्रगट हुआ वह उत्कृष्ट और उस आत्म साधन को उत्पन्न करने में जिस कारण का अवलंबन हो वह सब अपवाद जानना चाहिये। श्री अरिहंत की सेवना आत्म साधन का कारण है इसलिये यह अपवाद सेवना है। इस पद में तथा अगले दो पदो में अपवाद सेवना के सात नय से सात भेद कहे गये हैं।

व्यवहारे बहुमान ज्ञान निज, चरणे जिन गुण रमणा जी।
प्रभु गुण आलंबी परिणामे, ऋजुपद ध्यान स्मरणा जी॥ श्री०॥ ४॥

अर्थ:—ज्ञान में अरिहंत के शुद्ध स्वरूप का भासन होना, केवल ज्ञानादि स्वरूप संपदा, धर्म देशना रूप उपकार संपदा, चौतीस अतिशय तथा पैंतीस वचनातिशय रूप अतिशय संपदा का उपयोग होना, वीतराग का बहुमान होना आत्म शक्ति को जिन भक्ति में लगाना एवं चारित्र से जिन गुणों में रमण करना—तन्मयता प्राप्त करना; यहां क्षयोपशमी आत्मगुण की प्रवृत्ति अरिहंत अनुयायी है इसलिये यह व्यवहार नय से अपवाद भाव सेवना है। प्रभु के भाव गुणों का अवलंबन लेकर तन्मय रूप से तदुपयोग रखना ऋजुसूत्र नय से अपवाद भाव सेवना है। जहां तक धर्म ध्यान रूप से आलंबन साधना है वहां तक ऋजुसूत्र नय है।

शब्दें शुक्ल[1] ध्यानारोहण, समभिरूढ गुण दशमे जी।
बीय शुक्ल[2] अविकल्प एकत्वें, एवंभूत ते अममे जी॥ श्री॥ ५॥

अर्थ:—शुक्ल ध्यान में आरोपण हो तो उसे शब्दनय से अपवाद भाव सेवना जानना चाहिये दशवें सूक्ष्म संपराय गुण स्थान में—शुक्ल ध्यान के प्रथम पाद के अन्त में समभिरुढ नय से अपवाद भाव सेवना जानना। शुक्ल ध्यान के दूसरे पाये में एकत्व वितर्क अविचार रूप से चढकर निर्विकल्प समाधि द्वारा स्वरूप एकत्व

---

१. शुकल।

ारिणमन किया कि साधना पूर्ण हुई अतएव क्षीण मोह गुणस्थान में एवं भूत नय ा अपवाद भाव सेवना जानना चाहिये ।

विशेष:—यहां कोई प्रश्न करे कि क्षीण मोह गुण स्थान में एव भूत सेवना ैसे कहते हो ? उसका उत्तर यह है कि यहां तो अपवाद भाव सेवना का अधिकार है त्सर्ग भाव साधना तो अयोगी गुणस्थान पर्यन्त है ।

उत्सर्गे समकित गुण प्रगट्यो, नैगम प्रभुता अ शे जी ॥
संग्रह आतग सत्तालंबी मुनिपद भाव प्रशंसे जी ॥ श्री० ॥ ६ ॥

अर्थ:—जब शंकादि पाच अतिचार रहित क्षायिक आत्मतत्व निर्धार रूप ुद्ध समकित गुण प्रगट होता है तब प्रभुता का एक अ श प्रगट होने से आत्मा का ्क अंश कार्य सफल होता है इसलिये यह नैगम नय से उत्सर्ग भाव सेवा है । म्यकत्व प्राप्त करके जब वह भाव मुनि स्वसत्तावलंबी होता है तो यह संग्रह नय े उत्सर्ग भाव सेवना है । जब साधक अप्रमत्त अवस्था पाकर उपादान कारणता ो सर्वथा स्वरूपावलंबी करता है तब अंतरग वस्तुगत व्यवहारवस्तु स्वरूप हो जाता है ेसी अवस्था को व्यवहार नय से भाव सेवना कहते है । मुनिपद का यह भाव अत्यन्त ्रशंसनीय है ।

विशेष:—इस पाचवे एव आगे के पदो में उत्सर्गभाव सेवना का ७ नयो े विचार किया है जितने अंश में आत्म धर्म प्रगट हो उसे उत्सर्ग भाव सेवना कहते ै । यहा कोई पूछे कि गुण प्रगट हुआ उसे सेवा कैसे कहते हो ? इसका उत्तर यह ै "तन्मय रूप होकर रहना ही सेवना का अर्थ है अथवा आत्मा के अनेक गुण ्रगट होना बाकी है उनका साधक है इसलिये सेवना कहा है क्योकि साधना ही ेवना है ।"

ऋजु सूत्रे जे श्रेणि पदस्थें, आत्म शक्ति प्रकासे जी ।
यथाख्यात पद शब्द स्वरूपे, शुद्ध धर्म उल्लासे जी ॥ श्री० ॥ ७ ॥

अर्थ:—क्षपक श्रेणी में जो आत्म शक्ति प्रगट होती है उसे ऋजु सूत्र नय से उत्सर्गभाव सेवना कहते है एवं यथाख्यात क्षायिक चरित्र मे जो शुद्ध कषाय रहित आत्मधर्म उल्लसित होता है उसे शब्द नय से उत्सर्ग भाव सेवना कहते है ।

विशेष:—अपने स्वरूप में रमण करने वाला साधक ज्यों ज्यो स्वावलंबी होता है, जितना जितना परावलंबन हटाता है उतनी उतनी ही उत्सर्ग सेवना जाननी चाहिये ।

भाव सयोगी अयोगी शैलेसे, अन्तिम दुगनय जाणो जी।
साधनताए निज गुण व्यक्ति, तेह सेवना बखाणो जी ॥ श्री ॥ ८ ॥

अर्थः—तेरहवें सयोगी गुणस्थान में समभिरूठ नय से, एवं चौहदवें अयोगी गुणस्थान में एवंभूत नय से उत्सर्ग भाव सेवना जानना चाहिये। साधना से जो निजगुण व्यक्त हो उसे आत्म सेवना कहना चाहिये।

विशेषः—सिद्ध अवस्था साध्य है, इसे प्राप्त करने में कारणभूत सेवा को उत्सर्ग भाव साधना कहते हैं एवं उत्सर्ग भाव साधना रूप कार्य में जो कारण भूत सेवा हो उसको अपवाद भाव साधना कहते हैं। शेष सब द्रव्य सेवना के लेखे में हैं। इस रीति से कारण कार्य भाव का संबन्ध जोड़ना चाहिए।

कोई पूछे कि एवंभूत साधना मोक्ष में क्यों नहीं होती हैं ?

उसका उत्तर यह है कि मुक्त आत्म को नवीन कुछ करने का नही है किन्तु अयोगी को सिद्धता उत्पन्न करनी है इसलिये साधना का अन्त अयोगी गुणस्थान में है। जितना काम अधूरा उतनी ही साधना और जो साधना है उसे ही सेवना कहना चाहिये।

कारण भाव तेह अपवादे, कार्यरूप उत्सर्गे जी।
आत्म भाव ते भाव द्रव्य पद, बाह्य प्रवृत्ति निःसर्गे जी ॥ श्री ॥ ९ ॥

अर्थः—यहां कारण भाव को अपवाद सेवना तथा स्वगुण निष्पत्ति रूप कार्य को उत्सर्ग सेवना कहा है। आत्म भाव, भाव निक्षेप है तथा बाह्य प्रवृत्तिद्रव्य निक्षेप है (इसी तत्व का विस्तार अगले पद में है)।

कारण भाव परंपर सेवन, प्रगटे कारज भावो जी।
कारज सिद्धें कारणता व्यय, शुचि परिणामिक भावो जी ॥ श्री० ॥१०॥

अर्थः—कारण भाव जो अरिहंत देव हैं। उनकी द्रव्य भावना करते हुये भाव सेवा प्रगट होती है। भाव सेवा से उत्सर्ग धर्म प्रगट होता है जिससे सिद्धता रूप कार्य उत्पन्न होता है। सिद्धता रूप कार्य प्रगट होने से कारणता का नाश हो जाता है। उस समय भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्म रहित आत्मा का पवित्र परिणामिक भाव रहता है इस भांति भगवान की द्रव्य सेवना से यह जीव परंपरा से—क्रम से परमानद स्वरूप शाश्वत अवस्था प्राप्त करता।

विशेष—सिद्ध परमात्मा में परम पवित्र पारिणामिक भाव होता है। जैन दर्शन में पांच भाव कहे गये हैं;—औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक। कर्म के उदय से जो भाव हो वह औदयिक, कर्म के उपशम से जो भाव हो वह औपशमिक, कर्म के क्षय से जो भाव हो वह क्षायिक, कर्म के क्षय और उपशम से जो भाव हो वह क्षायोपशमिकभाव तथा जीव के मूल लक्षण को पारिणामिक भाव कहते हैं। सिद्धों में पारिणामिक भाव व कर्म क्षय जन्य क्षायिक भाव होता है। इस भांति कारण परमात्मा से यह जीव कार्य परमात्मा हो जाता है।

परम गुणी सेवन तन्मयता, निश्चय ध्याने ध्यावे जी।
शुद्धातम अनुभव आस्वादि, देवचन्द्र पद पावे जी ॥ श्री० ॥ ११ ॥

अर्थः—परमगुणी श्री अरिहंत की सेवा में तन्मय होकर जो एकत्व रूप से अपने स्वरूप का ध्यान करता है वह जीव शुद्ध आत्मानुभव का आस्वादन करके चिन्दानन्द रूप देवचन्द्र पद को पाता है।

विशेषः—भक्त शिरोमणि महान तत्व वेत्ता मुनिराज श्री देवचन्द्रजी ने यहां भव्य जीवों को उपदेश देते हुये आशीर्वाद वचन कहे हैं ' हे भव्यों ! जो तुम आत्म सुख के इच्छुक हो तो अशरण शरण, जगदाधार, मोह तिमिर के ध्वंसक भाव सूर्य कर्म रोग के परम वैद्य, महा माहण, महागोप, महानिर्यामक, महा सार्थवाह, सम्यक दृष्टि जीवों के जीवन प्राण, साधु निग्रंथ जिनकी आज्ञा में चलते हैं, उपाध्याय के हृदयरूप सरोवर के हंस, आचार्यों के नाथ, गणधरों के साक्षात् मोक्ष के हेतु और स्याद्वाद धर्म के उपदेशक, ऐसे श्री अरिहंत देव की सेवा करो यही आधार है। श्री चन्द्रप्रभ की सेवा जहां तक तुमारी सम्पूर्ण सिद्धता न हो वहां तक अखण्ड रहो' यही सार है।

१. इस उत्सर्ग व अपवाद का लक्षण बृहत कल्पभाष्य व उसकी टीका में विस्तार से कहा है (श्रीमद देवचन्द्र)

नवम श्री सुविधिनाथ जिन स्तवन

थारा महेला ऊपर मेह झबुके बीजली हो लाल ॥ ए देशी ॥

दीठो सुविधि जिणन्द, समाधि रसे भर्यो हो लाल ॥ स० ॥
भास्यो आत्म स्वरूप, अनादिनो वीसर्यो हो लाल ॥ अ० ॥
सकल विभाव उपाधि, थकी मन ओसर्यो हो लाल ॥ थ० ॥
सत्ता साधन मार्ग, भणी ए संचर्यो हो लाल ॥ भ० ॥ १ ॥

कोई भव्य जीव भव स्थिति का परिपाक कर वीतराग प्रभु की प्रभुता से हर्षित होकर कहता है ।

अर्थः—आत्म स्थिरता रूप समाधि रस से परिपूर्ण सुविधिनाथ भगवान की मुद्राको मैंने देखा, उसे देखकर अनादिकाल से भूला हुआ आत्मस्वरूप भासित हुआ, अशुद्ध विभाव उपाधि से मन हट गया और सत्ता साधना के मार्ग की ओर प्रवर्तन हुआ ।

तुम प्रभु जाणंग रीति, सर्व जग देखता हो लाल ॥ स० ॥
निज सत्तायें शुद्ध, सहुने लेखता हो लाल ॥ स० ॥
पर परिणति अद्वेष, पणे उवेखता हो लाल ॥ प० ॥
भोग्य पणे निज शक्ति, अनंत गवेखता हो लाल ॥ अ० ॥ २ ॥

अर्थः—हे प्रभु ! आप जानने की रीति से सारे जगत को देखते हैं अर्थात् अपने ज्ञान गुण से सब भावों को जानते हैं । सब द्रव्य अपने सत्ता धर्म में निर्दोष है, आप उस ही सत्ता धर्म में सबको देखते है इसलिये जीव–भाव को मूल सत्ता ही से देखते हैं । उसमें रही हुई पर परिणति रूप भाव अशुद्धता की अद्वेष भाव से उपेक्षा करते हैं अर्थात् उसे आदरते नहीं है । भोग रूप से आप अपने निज धर्म को ही भोगते है, उसे ही भोग के योग्य गिनते हैं ।

विशेष—प्रभु सब द्रव्यों को जानते है परन्तु शुभ परिणामी वस्तु के न तो ग्राहक है और न अशुभ परिणामी वस्तु के द्वेषी है, वे तो यर्थार्थ रूप से जानते हैं । पंचास्तिकाय में तीन अस्तिकाय तो पर संग रहित है । पुद्गल का संयोगीपन भेद संघात

धर्म से है, कर्तापन से नहीं है इसलिये स्वसत्ता का लोप नहीं करता। जीव को भी यद्यपि अनादि विभाव है परन्तु सत्ता से मूल धर्म ही है। पुद्गल का संबंध संयोग जन्य है, उस संयोग जन्य संबंध से प्रभु रहित हैं; इसलिये अनंत गुण पर्याय-रूप, चैतन्यरूप, सहजसुख रूप तत्व विलासिता को ही भोगते हैं।

दानादिक निजभाव, हता जे परवशा हो लाल ॥ह०॥
ते निज सन्मुख भाव, ग्रही लही तुज दशा हो लाल ॥ग्र०॥
प्रभुनो अद्भुत योग, सरूपतणी रसा हो लाल ॥स०॥
भासे वासे तास, जास गुण तुज जिसा हो लाल ॥जा०॥३॥

अर्थः—दानादिक आत्मधर्म जो पुद्गल अनुयायी होकर परवश हो रहे थे, वे सब क्षयोपशम भाव आपकी वीतराग दशा पाकर आत्म सत्ता के सन्मुख होते हैं। हे प्रभु ! आपका योग-ज्ञान दर्शन चारित्ररूप स्वरूप की भूमिका अद्भुत है, ऐसी निर्मल निर्विकार रत्नत्रयी की पहचान व प्रतीति उसी को होती है जिसमें आपके समान गुण प्रगट हुये हों।

विशेषः—निःसहाय, निर्विकार, निःप्रयत्न, निरन्तर सकलाव-बोध को ज्ञान, यथार्थ सर्व सापेक्ष सकल पदार्थ के निर्धार को दर्शन एवं निराग निश्चल निरामय स्थिरता परिणाम को चारित्र कहते है।

मोहादिकनी घूमि, अनादिनी उतरे हो लाल ॥अ०॥
अमल अखण्ड अलिप्त, स्वभावज सांभरे हो लाल ॥स्व०॥
तत्व रमण शुचि ध्यान, भणी जे आदरे हो लाल ॥भ०॥
ते समता रस धाम, स्वामि मुद्रा वरे हो लाल ॥स्वा०॥४॥

अर्थः—हे प्रभो ! आपके दर्शन से अनादिकाल से लगी हुई परभाव रमणता-रूप मोहादिक की मादकता जब इस जीव से पृथक होती है तब राग द्वेष रहित अखंड अलिप्त निज सहज स्वभाव का भासन होता है। जो जीव ज्ञानादि अनन्त गुणों में रमण करता है तथा निर्मल शुक्ल ध्यान द्वारा ज्ञायक सत्ता को आदरता है वह सर्व विभाव क्षय करके समता रस के धाम ऐसे स्वामी जिनेन्द्र देव की मुद्रा को पाता है अर्थात् निर्मल पूर्णानन्दी होता है।

प्रभु छो त्रिभुवन नाथ, दास हुँ ताहरो हो लाल ॥दास०॥
करुणानिधि अभिलाष, अछे मुझ ए खरो हो लाल ॥अ०॥
आतम वस्तु स्वभाव, सदा मुझ सांभरो हो लाल ॥स०॥
भासन वासन एह, चरण ध्यानें धरो हो लाल ॥च०॥५॥

अर्थः—हे प्रभु ! आप त्रिभुवन के स्वामी हैं और मैं आपका दास हूँ। हे करुणानिधि ! मेरी यह सच्ची हार्दिक अभिलाषा है कि तत्वरूप आत्म स्वभाव का

मुझे निरन्तर ध्यान रहे। हे प्रभु ! भासन, वासन, रमण और ध्यान यह सब मुझे मेरे स्वभाव का ही हो। यही मेरा मनोरथ है।

प्रभु मुद्राने योग, प्रभु प्रभुता लखे हो लाल ॥प्र०॥
द्रव्यतणे साधर्म्य, स्वसंपत्ति ओलखे हो लाल ॥स्व०॥
ओलखतां बहुमान, सहित रुचि पण वधे हो लाल ॥स०॥
रुचि अनुयायी वीर्य, चरण धारा सधे हो लाल ॥च०॥६॥

अर्थः—प्रभु मुद्रा का योग मिलने पर जीव अनंतगुण रूप प्रभु की प्रभुता को लख लेता है। द्रव्य के साधर्म्य से उसे स्वसम्पत्ति की पहिचान होती है। इस प्रकार निज संपदा की पहिचान होने पर बहुमान होता है तथा उसे प्राप्त करने की रुचि जागृत होती है, रुचि के अनुसार वीर्य गुण की स्फुरणा होती है एवं जिस दिशा में वीर्य की स्फुरणा होती है उसीमें रमणता होती तथा उसीको पाने का आचरण होता है इसलिये जिन मुद्रा का योग परम साधन है।

विशेषः—यहां प्रश्न होता है कि विभावता अनादि की है तो यह जीव का स्वपरिणाम है या पर परिणाम ? जो स्वपरिणाम है तो विभाव क्यों कहते हो ? और पर परिणाम है तो अनादि कैसे कहा जाय ? यदि अनादि है तो उसका छूटना असंभव होकर मुक्ति का अभाव होगा ? उत्तर यह है कि विभाव को सादि माना जाय तो पहले जीव या पहले कर्म ? पहले जीव और पीछे कर्म माना जाय तो ज्ञान स्वरूप आत्मा के कर्म क्यों लगा ? यदि पहले कर्म कहा जाय तो कर्त्ता बिना कर्म कैसे संभव है ? इसलिये कर्म का अनादि संबंध मानना ही युक्ति युक्त है। यह कोई नियम नहीं है कि अनादिकाल की लगी हुई वस्तु अलग नही होती। जीव और कर्म का समवाय सम्बन्ध नहीं है किन्तु संयोग जन्य संबंध हैं। जैसे खान में स्वर्ण और मिट्टी अनादि काल से हैं किन्तु उन्हें पृथक किया जा सकता है, क्योंकि उनका संबंध संयोग जन्य है।

क्षायोपशमिक गुण सर्व, थया तुज गुण रसी हो लाल ॥थ०॥
सत्ता साधन शक्ति, व्यक्तता उल्लसी हो लाल ॥थ०॥
हवे संपूरण सिद्धि, तणी शी वार छे हो लाल ॥त०॥
देवचन्द्र जिनराज, जगत आधार छे हो लाल ॥ज०॥७॥

अर्थः—हे प्रभु ! क्षायोपशमिक सब गुण जब आपके गुणों के रसिक होते हैं, तो अनंत गुण रूप सत्ता के साधन उत्पन्न करने की शक्ति स्वयं प्रगट रूप से उल्लसित होती है, अब सम्पूर्ण अविनाशी सिद्धता प्रगट करने में क्या विलंब हैं ? देवों में चन्द्रमा के समान जिनराज ! सब जीवों के आधार हैं, देवचन्द्र जी कहते है कि जिन मुद्रा के अवलंबन से अनंत जीवों ने सिद्धि पाई है इसलिये अरिहंत का स्मरण वंदन, नमन, स्तवन, ध्यान करना चाहिये। हे भव्यजीवों ! तुमको यही आधार है।

अथ दशम श्री शीतलनाथ जिन स्तवनं

आदर जीव क्षमागुण आदर ॥ ए देशी ॥

शीतल जिनपति प्रभुता प्रभुनी, मुझथी कहीयन जायजी ।
अनंतता निर्मलता पूरणता, ज्ञान बिना न जणायजी ॥शी०॥१॥

अर्थः—शीतलनाथ भगवान की आत्मिक प्रभुता मुझ से कही नही जासकती क्योंकि प्रभु के गुणों की अनन्तता निर्मलता और पूर्णता केवल ज्ञान बिना जानी नहीं जा सकती ।

विशेषः—शीतलनाथ भगवान की अनत प्रभुता केवलज्ञान गम्य है, श्रुत अभ्यासी तत्व रुचि सम्यक दृष्टि को वह श्रद्धागम्य हैं, मुझ अल्पज्ञ से वह किस प्रकार कही जा सकती ? क्योकि सिद्ध भगवान के अभिलाप्य और अनभिलाप्य दोनों ही प्रकार के सब पर्याय निरावरण है । उनमें अनभिलाप्य पर्याय को केवली भगवान जानते हैं पर वचनातीत होने से कह नही सकते । दूसरे अनभिलाप्य पर्याय यद्यपि वचन गम्य हैं पर अनंत है और वचन का क्रम प्रवर्तन है तथा आयु सीमित है इसलिये कहे नही जा सकते ।

चरम जलधि जल मिणे अंजलि, गति जीपे अतिवाय जी ।
सर्व आकाश उलंघे चरणें, पण प्रभुता न गणाय जी ॥शी०॥२॥

अर्थः—स्वयंभू रमण समुद्र को क्या कोई अंजली से नाप सकता है ? क्या कोई प्रलय काल की वायु की चाल से चल सकता है ? लोकाकाश और अलोकाकाश को क्या कोई पाँव से लांघ सकता है ? यह सब काम करना असंभव है पर कल्पना की जाय कि यह काम कोई करभी लेवे तो भी वह प्रभु की प्रभुता की गणना नहीं कर सकता—उसका थाह नही ले सकता ।

सर्व द्रव्य प्रदेश अनंता, तेहथी गुण पर्याय जी ।
तास वर्गथी अनंत गुणुं प्रभु, केवल ज्ञान कहाय जी ॥शी०॥३॥

अर्थः—जीव द्रव्य तथा अजीव द्रव्य अनंत है, उनसे सब द्रव्यों के प्रदेश अनंत हैं । अकाश के प्रदेशो की अनतता बहुत बड़ी है, उससे भी गुण की अनंतता बहुत बड़ी है एवं उससे भी पर्याय अनंत गुणे है । प्रभु इन छः द्रव्यों के अनंत गुण पर्यायों को अस्ति नास्ति रूप से जानते है इसलिये प्रदेश पर्याय के वर्ग को अनंतगुणा

गुणाकार किया जाए उतना हे प्रभु ! आपका ज्ञान कहाता है। श्री भगवती सूत्र में 'अमियंनाणं केवलिस्स' ऐसा कहा है।

विशेषः—पर्याय, मूल धर्म की अपेक्षा गुण से भिन्न नहीं है, वस्तु में पर्याय परिपाटी हैं, पर्यायों का समूह मिलकर एक कार्य करे, उस प्रवृत्ति को गुण कहते हैं परन्तु प्रवृत्ति पर्याय ही की है एवं द्रव्य उसका आधार है। संज्ञा, संख्या, लक्षण और कार्य भेद से पर्याय, गुण से भिन्न है इसलिये गुण की जुदी व्याख्या उत्तराध्ययनादि सूत्र में है।

केवल दर्शन एम अनंतु, ग्रहे सामान्य स्वभाव जी।
स्वपर अनंतथी चरण अनंतुँ समरण संवर भाव जी ॥शी०॥४॥

अर्थ—हे प्रभो ! जिस प्रकार आपमें अनंत ज्ञान है, उसी भांति समस्त पदार्थों के सामान्य स्वभाव को ग्रहण करने वाला अनंत दर्शन भी है एवं समस्त स्वधर्म में रमण करने वाला तथा समस्त परभाव में अरमण रूप अनंत चारित्र भी है। हे देव ! आत्म वीर्यादिक की परिणति को परभाव से रोक कर निज स्वरूप में रखने रूप संवर भाव चारित्र की अनंतता भी आप में है।

विशेषः—सब पदार्थों का सामान्य और विशेष रूप है अर्थात् सामान्य बिना विशेष नहीं और विशेष बिना सामान्य नहीं। सामान्य बोध को दर्शन और विशेष बोध को ज्ञान कहते हैं। अपने आत्मा के सब पर्याय, वह सब स्वधर्म है और अपने से भिन्न सब जीव एवं अजीव द्रव्य के धर्म वह परधर्म है।

द्रव्य क्षेत्र नें काल भाव गुण, राजनीति ए चार जी।
त्रास बिना जड़ चेतन प्रभुनी, कोई न लोपे कार जी ॥शी०॥५॥

अर्थः—हे प्रभु ! सब पदार्थों के गुण पर्याय तथा स्वभाव का परिणमन द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार से होता है। आपके ज्ञानादि गुण का परिणमन भी इसी भांति चार प्रकार से होता है यह आपकी चार प्रकार की राजनीति है। हे प्रभु ! जिस रीति से आपका ज्ञान परिणमता है उसी रीति से सब द्रव्य परिणमते हैं। जिस रीति से आप प्ररूपणा करते हैं उसी रीति से सब द्रव्यों की परिणति है। आप किसी से कुछ कहते नहीं, त्रास देते नहीं, भय दिखाते नहीं परन्तु कोई द्रव्य आपकी ज्ञान परिणति को लोप करके नहीं चलता। ऐसी सहज आज्ञा सम्यक् दृष्टि, देशविरति, सर्व विरति को इष्ट है इसलिये आपकी आज्ञा निष्प्रयास और अखंड है जिसका कोई उल्लंघन नहीं करता।

विशेषः—(१) समुदाय को द्रव्यधर्म (२) आधारता को क्षेत्रधर्म (३) उत्पाद् व्ययरूप वर्तना को काल धर्म (४) तथा द्रव्य के मूल धर्म को भाव धर्म कहते हैं, इस भांति सब परिणमन है।

शुद्धाशय थिर प्रभु उपयोगें, जे समरे तुझ नाम जी।
अव्याबाध अनंतुँ पामे, परम अमृत सुख धाम जी ।।शी०।।६।।

अर्थः—हे प्रभु शुद्ध आशय से तथा स्थिर चित्त से जो अपने उपयोग को आपके गुण से जोड़ता है तथा आपके नाम का स्मरण करता है वह अनन्त अव्याबाध सुख को पाता है। यह सुख परम उत्कृष्ट है, अमृत रूप है, शाश्वत है, अनन्त सुख का धाम है।

विशेषः—शुद्धाशय अर्थात् इन्द्रियसुख, द्रव्य सुख परलोक सुख आदि सम्पूर्ण वासनाओं को त्याग कर मन को स्थिर करके जो प्रभु के नामादिक निक्षेपों की सेवना करता है वह परमानंद रूप अनंत अव्याबाध सुख को पाता है श्री हरिभद्र सूरिजी ने योग बिन्दु में पांच प्रकार के अनुष्ठान कहे हैं:–विष अनुष्ठान, गरल अनुष्ठान, अन्योऽन्य अनुष्ठान, इह लोकफल की आशा को विष अनुष्ठान, पर भव में इन्द्रिय सुख की वांछा को गरल अनुष्ठान, और साध्य शून्य-लक्ष रहितता को अन्योऽन्य अनुष्ठान कहते हैं। इन दोषों को टालकर जिनाज्ञा प्रमाण, विधि सहित प्रीति, भक्ति, वचन और असंग रीति से तद्धेतु तथा अमृत अनुष्ठान द्वारा साध्य को प्राप्त करना सदनुष्ठान है। मोक्ष प्राप्ति के लिये किया जाने वाला तद्धेतु अनुष्ठान है, भाव धर्म से गर्भित अत्यंत उल्लास व संवेग सहित किया जाने वाला अमृत अनुष्ठान है। अमृतानुष्ठान शीघ्र साक्षात् मोक्ष देता है तथा तद्धेतु अनुष्ठान परंपरा से मोक्ष देता है।

आणा ईश्वरता निर्भयता, निर्वांछकता रूप जी।
भाव स्वाधीन ते अव्यय रीतें, एम अनंत गुण भूप जी ।।शी०।७।।

अर्थः—हे प्रभु! आपकी आज्ञा में सब का वर्तन है अर्थात् आप ज्ञान से जो जानते हैं उसी भांति सब पदार्थों का परिणमन है। आप अनन्त सहज संपदा के ईश्वर हैं, निर्भय और वाञ्छा रहित है आपका भाव धर्म स्वाधीन एवं अविनाशी हैं, इस भांति हे प्रभो! आप अनन्त गुणों के स्वामी हैं

अव्यावाध सुख निर्मल ते तो, करण ज्ञानें न जणाय जी।
तेहज एहनो जाणंग भोक्ता, जो तुम सम गुण रायजी ।।शी०।।८।।

अर्थः—हे प्रभु! आप जो अव्याबाध अतिन्द्रिय सुख भोगते हैं वह इन्द्रियाधीन मतिज्ञान एवं श्रुत ज्ञान से नही जाना जा सकता है, अवधि और मनःपर्यवज्ञान से भी नहीं जाना जासकता; इस स्वाभाविक सुख को तो वही जान सकता है, वही भोग सकता है जो आपके समान गुणों का स्वामी हो।

विशेषः—इन्द्रिय ज्ञान को करण ज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान और मनः पर्यवज्ञान यद्यपि इन्द्रियाधीन नहीं हैं पर वे केवल रूपी-पदार्थ को ही जान सकते हैं इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान से अव्याबाध सुख का स्वरूप नहीं जाना जा सकता।

एम अनंत दानादिक निज गुण, वचनातीत पंडूर जी।
वासन भासन भावे दुर्लभ, प्रापति तो अति दूर जी ॥शी०॥६॥

अर्थः—इस प्रकार अनंत, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सिद्धत्व प्रमुख गुण, हे प्रभु ! आप में प्रगट हुये हैं, यह गुण वचनातीत-एवं महान् है। इन महान आत्मिक गुणों की श्रद्धा व भासन ही जब दुर्लभ है तो इनकी प्राप्ति तो बहुत ही दूर है

सकल प्रत्यक्ष पणें त्रिभुवन गुरु, जाणुं तुझ गुण ग्राम जी।
बीजुँ कांइ न मागुँ स्वामी, एहिज छे मुज काम जी ॥शी० ॥१०॥

अर्थः—हे त्रिभुवन गुरु ! आपकी सकल गुण संपदा मैं प्रत्यक्ष रूप से जानूँ, यही मेरी याचना है। हे स्वामी ! मैं दूसरा कुछ नहीं मांगता, हे दीनदयाल ! मेरा यही कार्य आप सिद्ध करें।

एम अनन्त प्रभुता सद्हतां, अर्चे जे प्रभु रूप जी।
देवचन्द्र प्रभुता ते पामे, परमानन्द स्वरूप जी ॥शी०॥११॥

अर्थः—इस प्रकार प्रभु की अनंती प्रभुता, सर्व प्रदेश निरावरणता, ज्ञानादि गुण निरावरणता, पर्याय निरावरणता पर जो श्रद्धा रखता है और प्रभु के रूप को अर्चता है-पूजता है वह देवों में चन्द्रमा के समान श्री अरिहंत देव की परमानंद स्वरूप प्रभुता को पाता है।

विशेषः—प्रभु की स्थापना भी प्रभु के समान है। श्री अरिहंतदेव के वन्दन का फल रायपसेणी सूत्र के सत्तरवें सूत्र में "हियाए सुहाए निस्सेसाए अणुगामियत्ताए" कहा है एवं जिन प्रतिमा के पूजन का फल भी सूत्र १३३ में यही कहा है तथा साधु के अधिकार में महाव्रत पालने का फल भी आचारांग में यही कहा है। इस प्रकार सूत्र में अनेक अधिकार कहे हैं, इसीलिये श्रीमद् ने 'जिन पडिमा जिन सारखी' कहा है

कुछ लोग द्रव्य पूजा में हिंसा समझते हैं, उनको ध्यान पूर्वक सूत्र पाठ देखने चाहिये-'सूत्र में जीव दया का फल साता वेदनीय तथा आत्मगुणों में आत्मा के लगाने को 'भावदया कहा है तथा भावदया को मोक्ष का कारण बतलाया है'। यद्यपि द्रव्यहिंसा भावहिंसा की कारण है पर वह हिंसा नहीं है वास्तव में भाव हिंसा ही हिंसा है; इसे हिंसा माना जाय तो साधुओं के आहार विहार बंदन विनय वैयावच्चादिक करते हुए पंच स्थावर बादर की बहुलता से उनका अहिंसाव्रत कैसे रह सकता है ?

जीव वधो अशुभ परिणाम हेतुः तदा हिंसा यदि,
अशुभ परिणाम हेतुर्न तदा हिंसा न इति।

आगम प्रमाण से द्रव्य हिसा कारण रूप है, वह विषय कषाय के अर्थी को हिंसा रूप है परन्तु जिन गुण का बहुमान करने वाले को जिन पूजा काल में पुष्पादिक की हिंसा वह हिसा का कारण नही है। भगवती सूत्र के ७ वें शतक के पहले उद्देशे में कहा है 'वनस्पति वध का नियम लेने वाला पृथ्वी खोदते हुए किसी वृक्ष का मूल छेद डाले तो भी उसके नियम में दोष नही आता है, ऐसी अवस्था में जिन पूजा में जिन स्वरूप का अवलंबन करके आत्मगुण निर्मल करने में हिंसा कैसे संभव है ?

श्री ठाणांग सूत्र में नदी में डूबती हुई साध्वी को साधू निकाले, ऐसी आज्ञा है और इसमें हिसा नही मानी है ऐसी अवस्था में प्रभु पूजा में हिंसा मानना कैसे उचित है" ? "भगवती सूत्र के २५ वें शतक में जिन शासन के लिये तेजो लेश्या के प्रयोग करने वाले साधु को आराधक माना है"।

श्री भगवती सूत्र के १८ वे शतक के ८ वे उद्देशे में श्री गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते है—'सामने व बगल की भूमि को देख देख के चलने वाले संयमी अनगार के पग के नीचे अनजान में कुकडी व बतक का बच्चा व कोई सूक्ष्म जीव आजावे और वह मर जाय तो हे भगवान ! उस अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगे या सापराथिकी ?'

भगवान –'हे गौतम ! उसे ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है न कि सापरायिकी इससे भी स्पष्ट है कि भाव हिंसा ही हिंसा है।

श्री भगवती सूत्र में चमरेन्द्र के अधिकार में सौधर्मेन्द्र ने 'अरिहंत तथा अरिहंत प्रतिमा की आशातना को एक कहा है।' 'करेमि भंते सामाइयं' मे भंते शब्द स्थापना का संबोधन है। अंगचुलिया सूत्र मे 'गुणी की स्थापना को, गुणी समान कहा है। इन सब प्रमाणो से स्थापना का महत्व स्पष्ट है जबूद्वीपपन्नती में निर्वाण कल्याणक के अवसर पर 'श्री ऋषभदेवजी के शरीर को स्नान कराया, चदन लगाकर, फूल चढाये, गहने पहनाये और शक्रस्तव किया'

इन सबसे स्थापना एवं द्रव्य निक्षेप का महत्व स्पष्ट हो जाता है

अथ एकादश श्री श्रेयांस जिन स्तवनं

प्राणी वाणी जिनतणी, तुमें धारो चित्त मझार रे ।।एदेशी।।

श्री श्रेयांस प्रभु तणो, अति अद्भुत सहजानंद रे ।
गुण एक विध त्रिक परिणम्यो, एम गुण अनंतना वृंद रे ।।
मुनिचन्द जिणंद अमंद दिणंद परे, नित्य दीपतो सुखकंद रे ।।१।।

अर्थ: श्री श्रेयांस प्रभु के सहज स्वभाव का आनन्द अत्यन्त अद्भुत है। प्रभु का एक एक गुण तीन प्रकार से परिणमता है, इस भांति प्रभु अनंत गुण के भंडार हैं। मुनियों में चन्द्रमा के समान जिनेंद्र भगवान का तेज सूर्य से भी अधिक देदीप्यमान है क्योंकि सूर्य का प्रकाश तो केवल दिन में ही रहता है किन्तु प्रभु का ज्ञान प्रकाश सदा दीपता है और जीव को अत्यन्त सुखदायक होता है।

विशेष:—सब द्रव्यों में अर्थ क्रियाकारिता है और वह गुण परिणति से है, उसमें असाधारणता विशेष गुण की मुख्यता से है। साधारण गुण–परिणति कर्त्ता के आश्रित है अर्थात् कर्त्ता के करने से प्रवर्तन होता है। पांच अकर्त्ता द्रव्यों की गुण परिणति सदा परिणमती है, यह नियम है। जीव द्रव्य की गुण परिणति सिद्ध अवस्था में सदा प्रवर्त्तती है किन्तु कारक चक्र के वर्त्तन से प्रवर्तती है इसलिये आत्म द्रव्य के ज्ञानादि गुण त्रिविध रूप से परिणमते हैं। इस भाति कारण, कार्य और क्रिया की त्रिविधता उस गुण की उसी गुण में है और इन तीनों परिणामों का कर्त्ता आत्मा है।

उपादान रूप से प्रबल कारण वह करण, उस करण का साध्यफल वह कार्य तथा करने रूप प्रवृत्ति वह क्रिया है; जैसे ज्ञान गुण करण है ज्ञान गुण से जो ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान हो वह इसका साध्यफल है इसलिये कार्य है और उस जानने को जो ज्ञान की स्फुरणा अर्थात् प्रवृत्ति हो वह क्रिया है। कारण कार्य और क्रिया अभेद भी है और उनमें भेद भी है। काल सत्व एवं प्रमेयत्व से अभेद है तथा संज्ञा, संख्या और लक्षण से भेद है।

निजज्ञानें करी ज्ञेयनो, ज्ञायक ज्ञातापद ईश रे ।
देखे निज दरशणें करी, निज दृश्य सामान्य जगीश रे ।।मु०।।२।।

अर्थ:– हे प्रभु ! आप अपने ज्ञान द्वारा सर्व ज्ञेय के ज्ञायक हैं इसलिये ज्ञाता पद के स्वामी हैं। दर्शन गुण द्वारा देखने योग्य अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व नित्यत्व आदि सामान्य संपदाओं को देखते हैं।

विशेषः—देखने योग्य पदार्थों को देखना कार्य है, दर्शन गुण करण है, दर्शनगुण की वृत्ति क्रिया और देखने वाला आत्मा कर्त्ता है। यह दर्शन गुण का त्रिविध परिणमन है।

निज रम्यें रमण करो, प्रभु चारित्रें रमता राम रे
भोग्य अनन्तने भोगवो भोगे तेणें भोक्ता स्वाम रे ॥मु०॥३॥

अर्थ :—हे परमानंदी प्रभु ! आपको अपना आत्मधर्म रम्य है, आप उसी शुद्ध परिणति रूप रम्य में रमण करते हैं। यहा चारित्र गुण करण है, स्वरम्य में रमण कार्य और चारित्र गुण की प्रवृत्ति क्रिया है। निज स्वरूप में रमण करते हैं इसलिये रमता राम है—स्वरूप के कर्त्ता हैं। हे प्रभु ! आप भोगने योग्य प्रगट आत्म-स्वरूप-अनन्त ज्ञानादि गुणों को भोग गुण द्वारा भोगते हैं इसलिये हे स्वामी ! आप उसके भोक्ता है। यहां भोग गुण करण, भोग योग्य अनन्त आत्म संपदा को भोगना कार्य, तथा भोग गुण की प्रवृत्ति क्रिया, तथा भोक्ता आत्मा कर्त्ता है।

देय दान नित दीजते, अतिदाता प्रभु स्वयमेव रे।
पात्र तुमें निज शक्तिना, ग्राहक व्यापकमय देव रे ॥मु०॥४॥

अर्थः—देने योग्य गुण को आत्मवीर्य का सहकार रूप दान, हे प्रभुजी ! आप सदैव देते हो इसलिये आप स्वयमेव अतिदानी है। हे प्रभु ! आप अपनी गुण पर्याय रूप शक्ति के आधार है, उसी के ग्राहक हैं, उसी में व्यापक है तन्मय हैं।

विशेषः—यहाँ दान गुण करण है, सहकार रूप दान कार्य है, दान गुण की प्रवृत्ति क्रिया है और दाता आत्मा कर्त्ता है। सहकार की प्राप्ति जिस गुण को हो यह उसे लाभ है।

परिणामिक[1] कारज तणो, कर्त्ता गुण करणे नाथरे।
अक्रिय अक्षय स्थितिमयी, निकलंक अनती आथ रे ॥मु०॥५॥

अर्थ :—परिणामिक रूप से अव्याबाधादिक अनत कार्यों के आप कर्त्ता हैं। यहां गुण करण है, करण का फल कार्य और गुण की प्रवृत्ति क्रिया है इस कारण कार्य और क्रिया के आप कर्त्ता है अर्थात् अपने परिणामिकपने के आप स्वयं ही कर्त्ता हैं किन्तु फिर भी हे प्रभु ! आप अक्रिय है क्योकि क्रिया तो चलोपयोगीपन से है और सिद्ध अचल हैं इसलिये अक्रिय है। हे प्रभु ! आप अक्षय स्थितिमय हैं एवं कर्म कलंक से रहित अनन्त सम्पदा के स्वामी हैं।

---

[1] **परिणामी।**

परिणामिक सत्तातणो, आविर्भाव विलास निवासरे ।
सहज अकृत्रिम अपराश्रयी, निर्विकल्पने निःप्रयासरे ।।म०।।६।।

अर्थ :—पहले सम्पूर्ण सत्ता पुद्गल संसर्ग से तिरोभाव थी, वह सब प्रगट हुई इसलिये हे प्रभु ! आप प्रागभावी सत्ता के विलास के घर हैं—अपने सहज आत्मधर्म को कृत्रिमता बिना, पर वस्तु के आधार बिना, मन के चिन्तन बिना तथा उद्यम बिना भोगते हैं ।

प्रभु प्रभुता संभारतां, गातां करतां गुण ग्राम रे ।
सेवक साधनताव रे, निज संवर परिणति पाम रे ।।मु०।।७।।

अर्थ :—प्रभु की अनन्तज्ञानमय प्रभुता का स्मरण करते हुये तथा गुण समूह का गान करते हुये सेवक गुण रुचि रूप साधनता वरता है और अपनी संवर परिणति को पाता है अर्थात् प्रभु के गुण उपयोग में वर्त्तता हुआ गुणी के गुण का अनुयायी होकर तत्व को साधता है ।

प्रगट तत्वता ध्यावतां, निज तत्वनो ध्याता थायरे ।
तत्त्व रमण एकाग्रता, पूरण तत्वे एह समाय रे ।।मु०।।८।।

अर्थ :—प्रगट तत्वी श्री अरिहंत सिद्ध की निरावरण आत्म संपदा को ध्याते हुये निज सत्तागत तत्व का ध्यान होता है, इस प्रकार स्वतत्व को ध्याते हुये तत्वमें रमणता और एकाग्रता प्राप्त होती है और फिर पूर्ण तत्व रूप होकर उसी पूर्ण तत्व में वह ध्याता समाजाता है अर्थात् पूर्ण तत्व रूप सिद्धावस्था को पाता है ।

विशेष :—आत्माकी निजी संपदा तो कर्म से आवृत्त है इसलिये भासन में आना दुर्लभ है किन्तु निष्पन्न परमात्मा की तत्वता प्रगट हैं वह श्रुतोपयोग से जानने में आती है इसलिये प्रगट तत्वी श्री अरिहंत सिद्ध भगवान की निरावरण आत्म संपदा को ध्याते हुये जीव अपनी सत्तागत द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तत्वताका ध्याता होता है ।

प्रभु दीठे मुझ सांभरे, परमातम पूर्णानन्द रे ।
देवचन्द्र जिन राजना, नित्य वन्दो पय अरविन्द रे ।।मु०।।९।।

अर्थ :—महा मुनिराज देवचन्द्रजी कहते हैं—प्रभु की स्थापना निक्षेप को देखकर मुझे परमात्मा के पूर्णानन्द स्वरूपका स्मरण होता है इसलिये जिनराज के चरण कमलों की नित्य वंदना करता हूँ । हे भव्यो ! तुम भी श्री अरिहंत देवका सदा वन्दन करो ।

अथ द्वादश श्री वासुपूज्य जिन स्तवन

पंथडो निहालु रे बीजा जिन तणो रे ।। एदेशी ।।

पूजना तो कीजेरे बारमा जिनतणी रे जसु प्रगट्यो पूज्य स्वभाव ।
परकृत पूजारे जे इच्छे नहींरे, साधक कारज दाव ।।पू०।।१।।

अर्थ :—हे भव्यजीवों ! पूज्य स्वभाव जिनका प्रगट हुआ है । अर्थात् सकल गुण निरावरण, परमज्ञानी, परमचारित्री, अयोगी, अलेशी, अकषायी, शुद्ध स्वरूपी सकल परभाव अभोगी आदि परम पूज्य स्वभाव जिनका प्रगट हुआ है । उन बाहरवें वासुपूज्य जिन भगवान की पूजा तुम्हें सर्वदा करनी चाहिये । यद्यपि भगवान दूसरे के द्वारा की हुई पूजा की इच्छा नहीं करते तो भी यह पूजा मोक्षार्थी, मार्गानुसारी समकिती, देश विरती, सर्व विरति आदि साधक के सिद्धतारूप कार्य का उत्कृष्ट उपाय है ।

द्रव्यथी पूजारे कारण भावनुं रे, भाव प्रशस्तने शुद्ध ।
परम इष्ट वल्लभ त्रिभुवन धणीरे, वासुपूज्य स्वयं बुद्ध ।।पू०।।२।।

अर्थ :—यद्यपि केसर, चन्दन, पुष्पादिक की पूजा द्रव्य रूप है तो भी भाव पूजा की कारण भूत है (द्रव्य पूजा उसी को कहना चाहिये जो भाव की कारण हो भाव पूजा दो प्रकार की है :—प्रशस्त भावपूजा और शुद्ध भाव पूजा । भाव आत्मा की परिणति को कहते हैं, गुणी के राग को प्रशस्त भावपूजा कहते हैं तथा गुणानुयायी प्रवर्त्तन को अर्थात् पूर्ण निष्पन्न तत्व में तन्मय होने को शुद्ध भाव पूजा कहते हैं । श्री वासुपूज्य स्वामी स्वयं अपनी शक्ति से सिद्ध बुद्ध हुये हैं, यह त्रिभुवन स्वामी मुझे परम इष्ट हैं-मुझ को अत्यन्त प्रिय लगते हैं; यह प्रशस्त रागरूप भाव पूजा है ।

विशेष :—विषय-परिग्रह का रागतो कर्म बंध का कारण है और अनुकंपा सातावेदनी की हेतु है । अरिहन्तादि पंचपरमेष्ठी आगम एवं साधर्मिक पर पक्षपात रहित गुणीपन के लिये जो राग हो उसे प्रशस्त राग जानना चाहिये । यद्यपि वह पुण्य बंध का हेतु है तथापि प्रगट हुये आत्म गुण को स्थिर रखने का तथा नये को प्रगट करने का हेतु है अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य का हेतु है । यहां कोई पूछे कि श्री गौतमस्वामी को वीर भगवान पर जो राग था वह केवल ज्ञान का रोधक कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि श्री गौतमस्वामी का प्रशस्तराग क्षयोपशमी रत्नत्रयी का दीपक था पर श्री वीर की विद्यमानता में राग की मंदता नहीं हुई । जब कारण

मिटा तो राग अवस्था रुकी तब श्रेणी चढ़ी और सिद्धि पाई इसलिये प्रशस्त राग क्षयोपशमी रत्नत्रयी का विरोधी नही है, वह क्षायिकता की ईहा से क्षायिकता को समीप लाता है किन्तु क्षायिक रत्नत्रयी नहीं होने देता इसलिये प्रशस्तभाव पूजा साधकता में हैं।

अतिशय महिमारे अति उपगारता रे, निर्मल प्रभु गुण राग।
सुरमणि सुरघट सुरतरु तुच्छ ते रे, जिनरागी महाभाग ॥पू॥३॥

अर्थ :—प्रभु के अतिशयों की महिमा, धर्म देशना रूप पर उपकारिता तथा केवलज्ञान, वीतरागता, असंगता, प्रमुख निर्मल गुणों पर जो राग हो उसे प्रशस्तराग जानना चाहिये। ऐसे महाभागी जिन रागी को सुरमणि कामकुंभ, कल्पवृक्ष, यह सब तुच्छ लगते हैं क्योंकि यह वस्तुयें तो इह लोक सुख की कारण होने से भाव अशुद्धता को बढ़ाती है। जो जीव काम राग, दृष्टिराग, स्नेहराग की भीड़ टालकर पुरुषोत्तम परमानंदी श्री वासुपूज्य प्रभु का रागी होता है वह धन्य है, उसे महाभाग्यवान जानना चाहिये।

अगले दो पदों में शुद्ध भाव पूजा के स्वरूप का वर्णन है।

दर्शन ज्ञानादिक गुण आत्मना रे, प्रभु प्रभुता लयलीन।
शुद्ध स्वरूपी रूपे तन्मयी रे, तसु आस्वादन पीन ॥पू०॥४॥

अर्थ :—आत्मा के क्षयोपशम भावी दर्शन ज्ञानादि गुण प्रभु की प्रभुता में में लयलीन हो अर्थात् भासन, रमण और अनुभव अरिहंत गुणों का हो। इस प्रकार जितनी आत्मशक्ति प्रगटे उस सबको अरिहंत गुण की अनुयायी करके तन्मयता रूप करे तो उसे शुद्ध भाव पूजा जाननी चाहिये अर्थात् शुद्ध स्वरूपी परमात्मा के स्वरूप में तन्मय होकर उसका अनुभव करे उसी में पुष्ट रहे तो उसको शुद्ध भावपूजा जानना चाहिये।

विशेष :—बहुमान पूर्वक वंदन नमनादिक योग भक्ति है, प्रभुपर इष्टता राग भक्ति है तथा अपने आत्मगुणों को प्रभु की प्रभुता के अनुयायी करके उसी में लीन होकर रहने को तत्व भक्ति कहते हैं।

शुद्ध तत्व रस रंगी चेतनारे, पामे आत्म स्वभाव।
आत्मालंबी निजगुण साधतो रे, प्रगटे पूज्य स्वभाव ॥ पू० ॥५॥

अर्थ :—शुद्ध निर्मल तत्वी श्री अरिहंत सिद्ध भगवान के रस में जब चेतना-रंग जाती है तब आत्मा अपने स्वभाव को पाती है। इस प्रकार साधक आत्मावलंबी

होकर निज ज्ञानादि गुणो को साधता हुआ अपने सत्तागत पूज्य स्वभाव को प्रगट करता है ।

आप अकर्त्ता सेवाथी हुवे रे, सेवक पूरण सिद्धि ।
निज धन न दिए पण आश्रित लहे रे, अक्षय अक्षर ऋद्धि ।।पू०।।६।।

अर्थ :—वीतराग भगवान स्वयं अकर्त्ता है किन्तु प्रभु की सेवा से सेवक को पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है । प्रभु अपनी ज्ञानादिक सपदा किसी को देते नही किन्तु उनके आश्रित जन अक्षय अविनाशी आत्म संपदा पाते है जो न कभी बिखर सकती और न क्षय हो सकती ।

विशेष :—पर कर्त्तापन जीव का धर्म नही है । सब द्रव्य अपनी अपनी सत्ता के स्वामी है, कोई द्रव्य अपना गुण दूसरे द्रव्य को नही देता है, न वह गुण अपने द्रव्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य मे जाता है, न कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुण का ग्रहण करता है ।

जिनवर पूजारे ते निज पूजना रे, प्रगटे अन्वय शक्ति ।
परमानंद विलासी अनुभवे रे, देवचंद्र पद व्यक्ति ।।पू०।।७।।

अर्थ :—श्री जिनराज की पूजा, भक्ति करना अपनी आत्मा की पूजा करना है, आत्मगुण बढ़ाना है, आत्मसंपदा को पुष्ट करना है क्योंकि जिन सेवना से अपने सहज ज्ञानादि अन्वयी गुणो का विलास प्रकट होता है ।

श्रीमद राजचन्द्रजी ने 'जिन पूजा रे ते निज पूजन रे' पर विचार करते हुये लिखा[1] है ।

"जो यथार्थ मूल दृष्टि से देखा जाय तो जिन भगवान की पूजा आत्मस्वरूप का पूजन ही हे । स्वरूपाकाक्षी महात्माओ ने इस प्रकार जिन भगवान व सिद्ध भगवान की उपासना को स्वरूप प्राप्ति का हेतु माना है । क्षीण मोह गुण स्थान तक उस स्वरूप का चितवन जीव को प्रबल अवलंबन है ।

अकेले अध्यात्म स्वरूप का चितवन जीव को व्यामोह पैदा कर देता है । बहुत से जीवो को शुष्कता प्राप्त कर देता है अथवा स्वेच्छा चारिता उत्पन्न कर देता है । अथवा उन्मत्त प्रलाप दशा उत्पन्न कर देता है ।

भगवान के स्वरूप के ध्यान के अवलबन से भक्तिप्रधान दृष्टि होती है और अध्यात्म दृष्टि गौण हाती है जिससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त प्रलापता नहीं होती"

---

१. आकाश आश्रम से प्रकाशित श्रीमद् राजचन्द्र पृ० ५७२ हिन्दी पृ० ६३६

अथ त्रयोदश श्री विमल जिनस्तवन

दास अरदास सी परे करे जी ।। ए देशी ।।

विमल जिन विमलता ताहरी जी, अवर बीजे न कहाय ।
लघु नदी जिम तिम लंघीये जी, स्वयंभू रमण न तराय ।। वि० ।।१।।

अर्थ :—हे विमल जिन ! आपकी निर्मलता दूसरे किसी छद्मस्थ जीव से नहीं कही जा सकती है । छोटी नदी को तो जैसे तैसे लांघा जा सकता है किन्तु स्वयंभूरमण समुद्र कैसे तैरा जा सकता है ?

सयल पुढवी गिरि जल तरुजी, कोइ तोले एक हथ्थ[1] ।
तेह पण तुझ गुण गण भणीजी, भाखवा नहीं समरथ ।। वि० ।।२।।

अर्थ :—सारी पृथ्वी, पर्वत, जल और वृक्ष इन सबको भले ही कोई एक हाथ से तोल ले पर हे प्रभु ! आपके गुण समूह को कहने में कोई समर्थ नहीं है ।

सर्व पुद्गल नभ धर्मना जी तेम अधर्म प्रदेश ।।
तास गुण धर्म पज्जव सहूजी, तुझ गुण एकतणो लेश ।। वि० ।।३।।

अर्थ :—सर्व पुद्गलद्रव्य, आकाशद्रव्य, धर्मास्तिकाय और उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेश अर्थात् पंचास्तिकाय के अनन्त गुण अनन्त प्रदेश और उनसे अनन्त गुण पर्याय, यह सब मिलकर भी आपके केवल एक गुण के लेश मात्र हैं क्योंकि पंचास्तिकाय के भाव वर्तमानकाल में हैं किन्तु केवली तो तीनों काल के पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा ध्रुव रूप को एक समय में जानते हैं इसलिये केवल ज्ञान की शक्ति अनन्तगुणी है ।

एम निज भाव अनंतनीजी, अस्तिता केटली थाय ।
नास्तिता स्वपर पद अस्तिता जी, तुझ सम काल समाय ।। वि० ।।४।।

अर्थ :—जैसे केवलज्ञान के अनन्त पर्याय हैं वैसे ही केवल दर्शनादिक के भी अनन्त पर्याय हैं । हे प्रभु ! इस प्रकार आपके भावों के अस्तिधर्म की अनन्तता कितनी होती है ? अर्थात् अनन्त है वैसे ही स्वद्रव्य-जीव तथा पर पद-पुद्गलादि अजीव द्रव्य के प्रदेश स्वभाव गुण पर्याय भी अनन्त है और उन सबका नास्तिपन आप में है । हे प्रभु ! आपकी परिणामिकता में प्रति समय यह अस्तिधर्म और नास्तिधर्म की अनंतता समाई हुई है ।

१ हत्थ

विशेष :—अस्ति नास्ति धर्म सब द्रव्यों में पारिणामिक भाव से है। प्रभु का अस्तिधर्म निर्मल है, निरावरण है जो समकिती को श्रद्धागोचर है, पूर्वधर को परोक्ष भासन गोचर है तथा केवली को प्रत्यक्ष है।

ताहरा शुद्ध स्वभावने जी, आदरे धरी बहुमान।
तेहने तेहिज नीपजेजी, ए कोई अद्भुत तान ॥ वि० ॥५॥

अर्थ :—हे प्रभु ! आपके शुद्ध स्वभाव को जो बहुमान पूर्वक आदरते है अर्थात् वंदन स्मरण ध्यानादिक रूप से अंगीकार करते है उनके आप ही जैसा शुद्ध स्वभाव उत्पन्न होता है। हे प्रभु ! यह कोई अद्भुत तान ही है—तत्व ही है।

तुम प्रभु तुम तारक विभूजी, तुम सम अवर न कोय।
तुम दरिसणथकी हुँ तर्यो जी, शुद्ध आलंबन होय ॥वि०॥६॥

अर्थ—हे प्रभु। मेरे अधिपति, मुझे संसार मे तारने वाले आप ही हैं। आपके समान मेरा कोई नही है। आपके दर्शन से मैं तर गया अर्थात् सम्यग् दर्शन के पाने से मैं तिर गया। (यहां कारण प्राप्त होने से भक्ति के उद्रेक से उपचार वचन कहा है) हे नाथ। आपके शुद्ध स्वरूप के अवलंबन से मैंने अपना शुद्ध स्वरूप जाना और उसमें विश्राम पाया (यहां भावी कार्य को वर्तमान मे आरोप किया है अतः यह वर्तमानारोप नैगमनय का वचन है)।

प्रभु तणी विमलता ओलखी जी, जे करे स्थिर मन सेव।
देवचंद्र पद ते लहे जी, विमल आनंद स्वयमेव ॥वि०॥७॥

अर्थ—देवचन्द्र जी कहते है कि विमल प्रभु की विमलता को पहिचान कर जो प्राणी स्थिर मन से सेवा भक्ति आदरता है वह समकिति देशविरति सर्व विरति साधक परमात्म पद पाता है जो स्वयमेव निर्मल आनंद रूप है।

अथ चतुर्दश श्री अनन्त जिन स्तवन

दीठी हो प्रभु दीठी जग गुरु तुझ ।।ए देशी।।

मूरत हो प्रभु मूरति अनन्त जिणन्द, ताहरी हो प्रभु ताहरी मुझ नयणे वसी जी।
समता हो प्रभु समता रसनो कंद, सहेजै हो प्रभु सहेजे अनुभव रस लसी जी ।।१।।

अर्थ—हे अनन्तनाथ प्रभु ! आपकी मूर्ति मेरे नेत्रों में बस रही है, यह समता रस की कन्द है तथा सहज अनुभव रस में लीन है।

भवदव हो प्रभु भवदव तापित जीव, तेहने हो प्रभु तेहने अमृत धन समीजी।
मिथ्या विष हों प्रभु मिथ्या विषनी खीव, हरवा हो प्रभु हरवा जांगुली मन रमीजी।।२।।

अर्थ—आपकी मूर्ति चार गति रूप दावानल के ताप से तपे हुये जीवों के लिये अमृत रूप मेह के समान है तथा मिथ्यात्व रूप विष की मूर्च्छा को हरने के लिये गारुडी मंत्र के समान है।

भाव हो प्रभु भाव चिन्तामणि एह, आतम हो प्रभु आतम संपत्ति आपवा जी।
एहिज हो प्रभु एहिज शिवसुख गेह, तत्त्व हो प्रभु तत्वालंबन थापवा जी ।।३।।

अर्थः—ज्ञानादि आत्म संपत्ति प्रदान करने के लिये हे प्रभु ! आपकी मूर्त्ति भाव चिन्तामणि रत्न के समान है। तत्त्व अवलंबन के लिये आपकी मूत्ति श्रेष्ठ कारण है इसलिये यही शिव सुख का घर है।

विशेषः—द्रव्य चिन्तामणि रत्न तो इन्द्रिय सुख का कारण है किन्तु वीतराग की मुद्रा मोक्ष रूप सुख की कारण है इसलिये भावचिन्तामणि रत्न कहा है।

जाए हो प्रभु जाए आश्रव चाल, दीठे हो प्रभु दीठे संवरता वधे जी।
रत्न हो प्रभु रत्नत्रयी गुणमाल, अध्यातम हो प्रभु अध्यातम साधन सधे जी।।४।।

अर्थः—हे प्रभु ! आपके दर्शन मे आश्रव की चाल का नाश होता है और संवर की वृद्धि होती है तथा ज्ञान दर्शन चारित्र की गुणमाला से आत्म स्वरूप का साधन सधता है।

मीठी हो प्रभु मीठी सूरत तुझ, दीठी हो प्रभु दीठी रुचि बहुमानथी जी।
तुझ गुण हो प्रभु तुझ गुण भासन युक्त सेवे हो प्रभु सेवे तसु भव भय नथीजी ।।५।।

अर्थः—हे प्रभु ! आपकी मुद्रा अत्यन्त मधुर है इस मधुर मूर्ति का मैं रुचि और बहुमान पूर्वक दर्शन करता हूँ और विचारता हूँ—हे वीतराग देव ! आपका ज्ञान कैसा विशाल व अद्‌भुत था ? आपने भव-भ्रमण करते हुए जीवों का कितना उपकार किया ? मैं धन्य हूँ कृत पुण्य हूँ जो मेरे जैसे मोह मग्न असंयमी को इस मनोहर मुद्रा का योग प्राप्त हुआ । मेरे लिये यह बहुत ही बडी बात है ।

इस प्रकार बहुमान पूर्वक जो भी भक्तिवान जीव प्रभु की स्थापना का दर्शन करता है और अरिहंत मुद्रा के योग से अरिहंत प्रभु के केवल ज्ञानादि गुणों का उपयोग पूर्वक द्रव्य तथा भाव से पर्युपासना करता है उसको संसार का भय नहीं होता, महा पुरुषों ने कहा है:—

इक्कोवि नमुक्कारो जिणवर वसहस्स वद्धमाणस्स
संसार सागराओ तारेइ नरं व नारिवा ॥२॥

जिनोंमें प्रधान श्री वर्धमान स्वामी को किया हुआ एक भी नमस्कार, पुरुष व स्त्री को संसार समुद्र से तार देता है ।

नामे हो प्रभु नामे अद्भुत रंग, ठवणा हो प्रभु ठवणा दीठे उल्लसेजी ।
गुण आस्वाद हो प्रभु गुण आस्वाद अभंग, तन्मय हो प्रभु तन्मयतायें जे धसेजी ॥६॥

अर्थः—हे प्रभु ! आपके नाम से अद्भुत रंग उत्पन्न होता है । हे देव ! आपकी परमोपकारी स्थापना देखकर अत्यन्त हर्षोल्लास होता है । आपके गुणों का निरन्तर आस्वादन वही करता है जो तन्मय होकर उन गुणो में पैठता है ।

गुण अनन्त हो प्रभु गुण अनंतनो वृंद, नाथ हो प्रभु नाथ अनंतने आदरेजी ।
देवचन्द्र हो प्रभु देवचन्द्र ने आनंद, परम हो प्रभु परम महोदय ते वरे जी ॥७॥

अर्थः—देवचन्द्रजी कहते हैं कि ऐसे अनन्त गुण के समूह श्री अनंतनाथ प्रभु को जो आदरता है वह अत्यन्त आनन्ददायक, परम महोदयवन्त मोक्ष रूप स्थानक को वरता है अर्थात् प्रभु की सेवना करने से कर्म क्लेश से मुक्त हो जाता है ।

पंचदश श्री धर्मनाथ जिन स्तवन

(सफल संसार अवतार ए हुँ गणु)

धर्म जगनाथनो धर्म शुचि गाइए, आपणो आतमा तेहवो भावियें ।
जाति जसु एकता तेह पलटे नहीं, शुद्ध गुण पज्जवा वस्तु सत्तामयी ।।१।।

अर्थ—धर्मनाथ भगवान के पवित्र निरावरण धर्म को बारंबार स्मरण करना चाहिये और अपनी आत्मा को वैसा ही विचारना चाहिये क्योंकि जिस वस्तु में जाति एकत्व है वह कभी पलटती नहीं । वस्तु की सत्ता शुद्ध गुण पर्यायमय है और वस्तु मात्र गुण पर्याय संयुक्त है ।

विशेष—यद्यपि जीव अशुद्ध परिणामी है और उसके ज्ञानादिगुण कर्म से आवृत्त है तो भी सत्ता से शुद्ध है, निरामय हैं इसीलिये अपने आत्म स्वरूप को धर्मनाथ स्वामी के समान विचारना ही तत्वालंबन का मार्ग है ।

नित्य निरवयव वली एक अक्रियपणे, सर्वगत तेह सामान्य भावे भणे ।
तेहथी इतर सावयव विशेषता, व्यक्ति भेदे पडे जेहनी भेदता ।।२।।

अर्थ—जो नित्य हो, आकाश के समान अवयव रहित हो, एक हो, जानने आदि क्रिया से रहित-अक्रिय हो, सब पर्यायों में व्याप्त हो उसे सर्वज्ञ देव ने सामान्य स्वभाव कहा है और सामान्य से इतर अर्थात् जो अविभाग पर्याय सहित-सावयव हों, अनेक हों, अनित्य हो, सक्रिय हो उसे विशेष स्वभाव कहा है । जिसमें पदार्थों तथा गुणान्तर के भेद से जुदापन हो उसे विशेष स्वभाव जानना चाहिये । सब व्यक्तियों में विशेषपन भिन्न भिन्न है इसलिये विशेष की सदा भिन्नता है । ज्ञानादिगुणों का भेद विशेष स्वभाव के कारण ही होता है ।

विशेष—सामान्यबिना वस्तु की आधारता नहीं और विशेष बिना कार्य नहीं, पर्याय प्रवृत्ति नहीं इसलिये पांचों ही अस्तिकाय सामान्य विशेष स्वभावमय हैं । विशेषावश्यक में कहा है "एगं निच्चं निरयव-मक्कियं सव्वग्गं च सामन्नं" नित्यता सामान्य धर्म है वह पदार्थों में सदा रहती है । नित्यता के पर्याय प्रदेशरूप अवयव नहीं हैं, नित्यता एक और अक्रिय है, नित्यता प्रदेश गुण एवं पर्याय इन सब में व्यापक है । इतने लक्षण होने के कारण नित्यता सामान्य स्वभाव है, इसी भांति अनित्यता

आदि भी सामान्य स्वभाव है। इस सामान्य से इतर को विशेष स्वभाव कहते हैं और वह विशेष स्वभाव सावयव, अनित्य, अनेक और सक्रिय होता है तथा व्यक्ति व द्रव्य के भेद से उसमें भिन्नता होती है।

एकता पिंडने नित्य अविनाशता, अस्ति निज ऋद्धिथी कार्यगत भेदता।
भाव श्रुत गम्य अभिलाप्य अनन्तता, भव्य पर्यायनी जे परावर्तिता ॥३॥

अर्थ—(१) द्रव्य के प्रदेश, गुण, पर्याय एक पिंड रूप हैं यह 'एक स्वभाव' है (२) सब द्रव्य अविनाशी हैं यह 'नित्यस्वभाव' है (३) कोई द्रव्य अपनी ऋद्धि कभी नहीं छोड़ता, अपने स्वभाव में ही रहता है यह 'अस्तिस्वभाव' है (४) चौथा भेद कार्यगत है। सब गुण अपना अपना कार्य करते हैं जैसे ज्ञानगुण जानने का, दर्शन देखने का इसलिये कार्यभेद से 'भेदस्वभाव' है (५) जो धर्म श्रुतज्ञान द्वारा जाना जा सके, वचन द्वारा कहा जा सके उसे 'अभिलाप्य स्वभाव' कहते हैं (६) पर्याय परिवर्तन को 'भव्य स्वभाव' कहते हैं। यह स्वभाव सब द्रव्यों में होते हैं इसलिए यह सामान्य स्वभाव है।

क्षेत्र गुण भाव अविभाग अनेकता, नाश उत्पाद अनित्य पर नास्तिता।
क्षेत्र व्याप्यत्व अभेद अवक्तव्यता, वस्तु ते रूप थी नियत अभव्यता ॥४॥

अर्थ—(१) पदार्थ के अनेक प्रदेश होते हैं यह क्षेत्र से अनेक स्वभावता है। गुण से एक एक द्रव्य में अनन्तगुण हैं एवं एक एक गुण के अनन्त गुण–विभाग हैं, यह गुण विभाग से अनेक स्वभावता हैं। भाव से ज्ञानादिगुणों के अनंत पर्यायों की अति गहन सूक्ष्मता के अनन्त भेद हैं यह अनेक स्वभावता है इसलिये क्षेत्र, गुण और पर्याय से द्रव्य में भिन्नता है, अनेक स्वभाव हैं। (२) उत्पाद् व्यय की परिणति 'अनित्य स्वभाव' है (३) पर धर्म की नास्तिता 'नास्ति स्वभाव' है। (४) गुण पर्याय भिन्न भिन्न कार्य करते हैं किन्तु सबका क्षेत्र एक है, एक क्षेत्र में एक आधारता से गुण पर्याय व्याप्त है यह 'अभेद स्वभाव है (५) वस्तु स्वरूप केवल ज्ञान गम्य है पर बहुत से धर्म, वचन अगोचर हैं यह अनभिलाप्यता 'अवक्तव्य स्वभाव' है। (६) पर्याय पलटती है, वस्तु का मूल रूप नहीं पलटता इस नियति से अभव्य स्वभाव है।

विशेष—वस्तु स्याद्वादमय है अर्थात् जिस समय नित्य उसी समय अनित्य, जहां अस्ति वहीं नास्ति, जब वक्तव्य तभी अवक्तव्य, जिस समय भव्य उसी समय अभव्य; तात्पर्य यह है कि परिणामी रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है और इससे ही

स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति आदि स्याद्वाद फलित होता है। पहले पद में जो ६ स्वभाव बताये हैं उनसे विरोधी स्वभावों का वर्णन और लक्षण इस पद में कहा है। यह सब सामान्य स्वभाव हैं—अगले पद में विशेष स्वभाव कहे हैं, जिनका विस्तृत वर्णन श्रीमद् ने आगमसार में किया है।

(१) चेतनस्वभाव—यह जीव में ही होता है अन्य पांचों द्रव्यों में नहीं होता इसलिये अन्य द्रव्यों की अपेक्षा यह विशेष स्वभाव है और जीव द्रव्य की अपेक्षा सामान्य स्वभाव है। चैतन्य स्वभाव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्तापन, भोक्तापन आदि सब का समावेश हो जाता है, यह चेतन स्वभाव उपचार से पुद्गल में आरोपित किया जाता है।

(२) अचेतन स्वभाव—जीव में नहीं होता बाकी पांचों द्रव्यों में होता है।

(३) मूर्त्तस्वभाव—यह पुद्गल में ही होता है, अन्य पांचों द्रव्यों में नहीं होता।

(४) अमूर्त्त स्वभाव—यह पुद्गल के अतिरिक्त पांचों द्रव्यों में होता है।

(५) एक प्रदेश स्वभाव—कालाणु व पुद्गलाणु में ही होता है बाकी चार द्रव्यों में नहीं होता है।

(६) बहु प्रदेश स्वभावः—काल के सिवाय बाकी सब द्रव्यों में यह स्वभाव होता है।

(७) विभाव स्वभावः—यह जीव और पुद्गल में ही होता है अन्य द्रव्यों मे नहीं होता।

(८) शुद्ध स्वभाव—यह सब द्रव्यों में है पर–उपाधि की अपेक्षा जीव और पुद्गल अशुद्ध भी है।

(९) अशुद्ध स्वभावः—जीव और पुद्गल ही में होता है अन्य द्रव्यों में नहीं होता।

(१०) उपचरित स्वभाव—द्रव्यों में जो स्वभाव न हो पर आरोपित किया जाय।

यद्यपि स्वभाव का समावेश गुण पर्याय में हो जाता है किन्तु इतनी विशेषता है कि गुण तो गुणी में ही रहता है और स्वभाव गुण, व गुणी दोनों में रहता है क्योंकि गुण गुणीदोनों अपनी अपनी परिणति में परिणमते हैं और जो परिणति है वही स्वभाव है।

विरोधी धर्म एक पदार्थ में कैसे घट सकते हैं ? इस के समाधान के लिये 'नयवाद' विचार करना चाहिये इसलिये ये स्वभाव सापेक्ष कहे गये हैं ।

र्म प्रागभावता सकल गुण शुद्धता, भोग्यता, कर्तृता रमण परिणामता ।
द्ध स्वप्रदेशता तत्त्वचैतन्यता, व्याप्य व्यापक तथा ग्राह्य ग्राहकता ।।५।।

अर्थ—ज्ञानादि धर्मों की प्रागभावता, ज्ञान दर्शन, चारित्र आदि गुणों की द्धता से सब स्वगुणों का भोक्तापन, कर्त्तापन, रमणता, परिणामिकता, शुद्ध स्व देशता, तत्वरूप मूल धर्म चैतन्यता, व्याप्य, व्यापकता, ग्राह्य, ग्राहकता यह सब जीव के शेष स्वभाव हैं । सामान्य स्वभाव तो हे प्रभु ! आपका सदा निर्दोष था परन्तु पर व्य के संयोग से विशेष स्वभाव का द्विधाभाव हो गया था वह स्वरूपालंबन से दोष होगया ।

ग परिहारथी स्वामी निजपद लह्यु , शुद्ध आत्मिक आनन्दपद संग्रह्यु ।
हवि पर भावथी हुँ भवोदधि वस्यो परतणो संग संसार तायें ग्रस्यो ।।६।।

अर्थ—स्वामीनाथ ने पुद्गलदिक का संग सर्वथा छोड़ा इस कारण निज पद या और शुद्ध आत्मिक अव्याबाध आनन्द पद का संचय किया, जब कि मैं पर भाव निमित्त पाकर भव समुद्र में बस रहा हूँ । अरे ! पुद्गलादिक के संसर्ग से संसार मुझे पकड़ लिया है ।

इवि सत्तागुणे जीव ए निर्मलो, अन्य संश्लेष जिम फटिक नवि सांमलो ।
परोपाधिथी दुष्ट परिणति ग्रही, भाव तादात्म्य माहरूं ते नहीं ।।७।।

अर्थ—तो भी सत्तागुण-द्रव्यास्तिक संग्रह नय से मेरा यह जीव निर्मल है, से काले रंग के डांक से विल्लोर काला दिखता है पर वास्तव में वह काला नहीं ता; पर—उपाधि से जो दुष्ट परिणति ग्रहण की है—तादात्म्य भाव से जो तादात्म्य ंध किया है वह सब उपाधिभाव मेरा नहीं है, संयोग संबंध है, समवाय संबंध नहीं है ।

णे परमात्म प्रभु भक्ति रंगी थइ, शुद्ध कारण रसे तत्व परिणति मयी ।
ात्म ग्राहक थये तजे पर ग्रहणता, तत्व भोगी थये टले पर भोग्यता ।।८।।

अर्थ—इसलिये परमात्म प्रभु की भक्ति का रंगी होकर यह जीव शुद्ध कारण रस से तत्व परिणति में मग्न हो जाता है, आत्म ग्राहक होने से पर-ग्राहकता

त्याग देता है । तत्वभोगी होने से पर भोगीपन टल जाता है ।

विशेष—पुद्‌गल रंगी होने से यह जीव अपने बंधन बढा रहा है । इस परानुगत आत्मा को जो अभी स्वरूप से जोड़ा जावे तो यह टिक नहीं सकता इसलिये अमोही एवं शुद्ध ज्ञानी से जोडा जाय तो स्वरूप रंगी हो सकता है क्योंकि, अरिहंत स्वरूप और आत्म स्वरूप सत्ता से समान ही है; इसलिये कर्म से लिपटा हुवा होने पर भी उन प्रभु का रसिक होने से आत्म स्वरूप की रुचि उत्पन्न होती है । उस रुचि से निज स्वरूप की श्रद्धा, भासन व रमणता होती है इस भांति यह जीव अनुक्रम से परभाव त्याग कर निज भाव को ग्रहण करता है ।

शुद्ध निःप्रयास निज भाव भोगी यदा आत्म क्षेत्रे नहीं अन्य रक्षण तदा ।
एक असहाय निस्संग निर्द्वंद्वता, शक्ति उत्सर्गनी होय सहु व्यक्तता ॥६॥

अर्थ—जब आत्मा पुद्‌गल संग रहित होकर बिना प्रयास शुद्ध आत्मभाव का भोगी होता है तब आत्म प्रदेश से पुद्‌गल कर्म का रक्षण नही होता और एक सर्व संग रहित, असहाय निद्वंन्द उत्सर्ग-शक्ति की व्यक्तता होती है अर्थात् निरावरणता प्रगट होती है ।

तिणे मुझ आतम तुझ थकी नीपजे, माहरी संपदा सकल मुझ संपजे ।
तिणे मन मन्दिरे धर्म प्रभु ध्याइयें, परम देवचन्द्र निज सिद्धि सुखपाइये ॥१०॥

अर्थ—धर्मनाथ प्रभु के निमित्त से मेरा आत्मतत्व उत्पन्न होता है, मेरी सम्पूर्ण सत्तागत संपदा मुझे प्राप्त होती है, इस कारण मन मन्दिर में धर्मनाथ प्रभु को ही ध्याता हूँ । श्री देवचन्द्रजी कहते है कि परम उत्कृष्ट देव जो स्वरूप में रमण करने वाले मुनि जन हैं उनमें चन्द्रमा के समान ऐसे श्री धर्मनाथ प्रभु के ध्यान से मुझे अपना सिद्धि सुख-मोक्षसुख प्राप्त हो ।

विशेष हे प्रभो ! मेरा अनन्तगुण पर्याय रूप, स्वकर्त्तापन, भोक्तापन एवं स्वरूप ऐश्वर्य जो मोहाधीन होने से कर्मावृत्त है, वह आपके स्वरूप के अवलंबन से मुझे प्राप्त हो अर्थात् मैं मेरी अरूपी सत्तागत तत्व संपदा का स्वामी होऊँ यही मेरी प्रार्थना है ।

षोडश श्री शांतिनाथ जिन स्तवन

(आंखड़ीये में आज सेत्रुंजो दीठो रे)

जगत दिवाकर जगतकृपानिधि, वाहला मारा समवसरणमां बैठारे।
चौमुख चौविह धर्म प्रकाशे, ते मैं नयणें दीठारे ॥
भविकजन हरखोरे, निरखी शांति जिणन्द ॥भ०॥
उपशम रसनो कन्द, नहीं इण सरिखोरे ॥ए आंकणी॥१॥

अर्थ—जगत के सूर्य, ज्ञान द्वारा प्रकाश करने वाले कृपानिधि, मेरे प्यारे प्रभु समवसरण में बैठे हुये चार मुख से चार प्रकार के धर्म का प्रकाश करते हैं, उपदेश देते हैं। ऐसे महान् प्रभु को मैंने आगम श्रवणरूप चक्षु से देखा है। हे भविक जन ! इन शान्तिनाथ प्रभु को देखकर हर्षित होओ। परम क्षमा रूपी रसका कन्द इनके समान कोई नही है।

प्रातिहारज अतिशय शोभा ॥वा०॥ तेतो कहिय न जावे रे।
घूकबालक थी रविकर भरनु, वर्णन केणी परे थावे रे ॥भ०॥२॥

अर्थ—प्रभु के आठ प्रातिहार्य और चौतीस अतिशयों की शोभा मुझ जैसे जीव से कही नहीं जा सकती है, घुग्घू के बच्चे से सूर्य किरणों का वर्णन किस प्रकार हो सकता है ?

वाणी गुण पांत्रीश अनोपम ॥ वा० ॥ अविसंवाद स्वरूपे रे ॥
भव दुखः वारण शिवसुख कारण, सूधो धर्म प्ररूपेरे ॥ भ० ॥३॥

अर्थः—प्रभु की वाणी में उपमा रहित पैंतीस गुण है वह वाणी अविसंवाद स्वरूपी है। संसार के दुख को मिटाने के लिये और मोक्ष-सुख प्राप्त कराने के लिये प्रभुजी यथार्थ धर्म की प्ररूपणा करते है।

दक्षिण पश्चिम उत्तर दिसिमुख ॥ वा० ॥ ठवणा जिन उपगारीरे।
तसु आलंबन लहिय अनेके, तिहां थया समकित धारीरे ॥ भ० ॥४॥

अर्थः—समवसरण में पूर्व दिशा सम्मुख तो तीर्थंकर भगवान बैठते हैं तथा दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशा के सन्मुख प्रभु जी का बिम्ब रहता है। यह जिन

भगवान की स्थापना भी महान उपकारी है इसका आलंबन पाकर अनेक जन वहीं समकितधारी हो जाते हैं।

विशेष:—व्रत लेनेवाले तो पूर्वदिशा में प्रभु के सम्मुख बैठते हैं, अन्य लोग दूसरी तरफ रहते हैं। उनके सन्मुख जिनेन्द्र का बिम्ब रहता है, इसका आलंबन लेकर भी अनेकों को सम्यक्त्व हो जाता है इसीलिये यह उपकार स्थापना निक्षेप का है।

षट नयकारज रूपे ठवणा ॥ वा० ॥ सग नय कारण ठाणीरे।
निमित्त समान थापना जिनजी, ए आगमनी वाणी रे ॥ भ० ॥५॥

अर्थः—जिन प्रतिमा में अरिहन्त सिद्धपन रूप कार्य निष्पन्नता छः नयसे हैं तथा सातों नय से निमित्तकारणता है। निमित्त कारणता से जिन भगवान और स्थापना जिन समान है, यह आगम वाणी है। आगम में अरिहन्त वन्दन और अरिहन्त प्रतिमा के वन्दन का फल समान कहा है।

विशेष:— (१) स्थापना देखने से अरिहंत सिद्ध का संकल्प स्थापना में होता है यह नैगमनय स्थापना है।

(२) अरिहन्त तथा सिद्ध के सब गुणों का संग्रह बुद्धि से स्थापन किया है इसलिए यह संग्रहनय से अरिहंत सिद्ध रूप स्थापना है।

(३) वन्दन, नमनादिक सब व्यवहार अरिहंत समान होता है, इसकी कारणता स्थापना में है यह व्यवहार नय स्थापना है।

(४) इस प्रतिमा रूप स्थापना को देखकर, भव्य जीव को यह विकल्प होता है कि यह अरिहंत ही हैं, इस विकल्प से ही स्थापना की है यह ऋजुसूत्र नय स्थापना है।

(५) अरिहंत एवं सिद्ध यह शब्द वहां प्रवर्तता है इसलिए यह शब्दनय स्थापना है।

(६) अरिहन्त के पर्याय वाची वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर इत्यादि सब पर्यायों की प्रवृत्ति भी स्थापना में हैं, यह समभिरूढ स्थापना है किन्तु केवल ज्ञानादिकगुण स्थापना में नहीं हैं इसलिये एवंभूत नय का धर्म स्थापना में नही है। यों तो सिद्ध रूप कार्य की अपेक्षा अरिहन्त भगवान में भी छः ही नय हैं क्योंकि जब तक सिद्ध अवस्था रूप कार्य न हो वह एवं भूत सिद्ध नहीं होते। विशेषावश्यक भाष्य में प्रथम तीन नय

थापना में कहे हैं और यहाँ छः नय कहे गये है। इसके लिये देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं कि यह उपचार भावना से कहा गया है क्योंकि समभिरूढ का लक्षण वचन पर्यायवर्त्ती है और वह लक्षण यहां पहुँचता है।

साधक तीन निक्षेपा मुख्य ।। वा० ।। जे विणु भाव न लहिये रे।
उपगारी दुग भाष्ये भांष्या, भाव वंदकनो ग्रहिये रे ।। भ० ।।६।।

अर्थ :—(१) नाम निक्षेप (२) स्थापना निक्षेप (३) द्रव्य निक्षेप। यह तीन निक्षेप भाव के साधक हैं, इनके बिना भाव निक्षेप हो नहीं सकता। बृहत् आवश्यक भाष्य में नाम और स्थापना इन दो निक्षेपों को उपकारी कहा है। द्रव्य निक्षेप तो पिंडरूप है इसलिये ग्रहण नही किया जा सकता और भाव निक्षेप अरूपी होने से नाम व स्थापना के बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इस कारण नाम व स्थापना परम उपकारी है अतएव नाम व स्थापना प्रमाण है। अरिहंत का भाव निक्षेप तो अरिहंत में ही है। वे परजीव को तारें तो संसार में किसी को रहना ही नहीं पड़े इसलिये मोक्ष साधन में तो वंदक के भाव को ही ग्रहण करना चाहिये।

विशेष :—समवसरण में विराजमान श्री अरिहत का नाम व आकार ही सब जीवों को उपकारी होता है। वही सबसे ग्रहण किया जा सकता है, उसही के अवलंबन से भाव निक्षेप प्रगट होता है और भाव निक्षेप प्रगट होने से संसार से निस्तार होता है।

ठवणा समवसरणे जिन सेति ।। वा० ।। जो अभेदता वाधी रे।
ए आत्माना स्व स्वभाव गुण, व्यक्त योग्यता साधी रे ।। भ० ।।७।।

अर्थ :—समवसरण में जिन जी विचरते थे उस समय तो मेरा जीव गत्यन्तर में था इसलिये अब स्थापना समवसरण में जिन मुद्रा देखकर जो गुणावलंबी चेतना करता हूँ तो एकत्व परिणामता बढ़ती है। इससे अनुमान होता है कि इस आत्मा को स्वाभाविक गुण प्रगट करने की योग्यता सधी है।

भलुं थयुं मैं प्रभु गुण गाया ।। वा० ।। रसनानो फल लीधो रे।
देवचद्र कहे माहरा मननो, सकल मनोरथ सीधो रे ।।भ०।।८।।

अर्थ :—मेरे लिये यह बहुत ही अच्छा हुआ कि मैंने प्रभु के गुणों का गान किया और अपनी रसना का फल प्राप्त किया अर्थात् अपनी जिव्हा को सार्थक किया। मुनि श्री देवचन्द्र जी कहते हैं कि मेरे मन के सारे मनोरथ पूर्ण होगये हैं।

✽

सप्तदश श्री कुंथुनाथ जिन स्तवनं

(चरम जिनेसरू ॥ ए देशी)

समवसरण बेसी करी रे, बारह परषदा मांहे ।
वस्तु स्वरूप प्रकाशता रे, करुणाकर जगनाहो रे ॥ कुं० ॥१॥
कुंथु जिनेसर निर्मल तुज मुख वाणी रे,
जे श्रवणे सुणे तेहिज गुण मणि खाणी रे ॥ कुं० ॥२॥

अर्थ :—करुणा के करनेवाले जगत के स्वामी श्री कुंथुनाथ भगवान समवसरण में बैठकर बारह परिषद् में वस्तु स्वरूप को प्रकाशते हैं अर्थात् जीव को जीव रूपसे, अजीव को अजीव रूप से, शुद्ध कार्य को शुद्ध कार्य रूप से उपदेश देते हैं। हे प्रभु ! आपके मुख से निकली हुई वाणी अत्यन्त निर्मल है। जो उसे कान से सुन लेता है वही गुण रूप मणि रत्न की खान हो जाता है।

गुणपर्याय अनंतता रे, वलिय स्वभाव अगाह।
नय गम भंग निक्षेपना रे, हेयादेय प्रवाहो रे ॥ कुं० ॥३॥

अर्थ :—प्रत्येक द्रव्य के गुण पर्याय स्वभाव की अनन्तता अगाध है। हे प्रभु ! आपने नय भेद से, निक्षेप भेद से, वस्तु धर्म से, उपचार धर्म से, कारण धर्म से. द्रव्य के स्वरूप को समझाया है। हेय धर्म के नय निक्षेप व भंग को हेय रूप से तथा उपादेय धर्म के नय निक्षेप और भंग को उपादेय रूप से कहा हैं।

कुंथुनाथ प्रभु देशना रे, साधन साधक सिद्ध।
गौण मुख्यता वचनमां रे, ज्ञान ते सकल समृद्धो रे ॥कुं० ॥४॥

अर्थ :—कुंथुनाथ प्रभु की देशना में साधक को निरावरण सिद्धता पर्यन्त सब साधन बताये गये हैं अर्थात् मार्गानुसारी सम्यक्त्व की साधना करे, समकिती विरति की साधना करे, विरति शुक्ल ध्यान को साधे, शुल्क ध्यान से क्षायिक गुण को साधे और क्षायिक गुणी सिद्धता को साधे, यह सब साधना क्रम प्रभु देशना में कहते हैं। प्रभु का ज्ञान पूर्णतया समर्थ है किन्तु वचन में क्रम प्रवर्तन हैं। एक बात कहने के पीछे दूसरी कहने में आती है इसलिए बचन में गौणता और मुख्यता है।

वस्तु अनन्त स्वभाव छे रे, अनंत कथक तसु नाम।
ग्राहक अवसर बोधथी रे, कहेवे अर्पित कामो रे ॥ कुं० ॥५॥

अर्थ :—वस्तु में अनन्त स्वभाव है, सब वस्तुयें अनन्तायुक्त हैं, वस्तु का नाम भी अनन्तता का द्योतक है जैसे जीव पुद्गल आदि नाम भी अनन्तता बताने वाले हैं क्योंकि जीव भी अनन्त है, पुद्गल भी अनन्त है परन्तु जैसा श्रोता हो, अवसर हो, श्रोता का बोध हो वैसा ही वचन में अर्पित करके प्रभु उपदेश करते हैं।

विशेषः—अर्पित और अनर्पित का स्वरूप तत्वार्थ में कहा है। पदार्थ में अनेक धर्म हैं, उनमें जिस अवसर पर जो धर्म कहने का प्रयोजन हो उस अवसर पर उसको वचन में अर्पित करना, उसको अर्पित कहते हैं तथा जिस धर्म के कहने का प्रयोजन न हो उसकी गवेषणा न करना उसे अनर्पित कहते हैं। छद्मस्थ का ज्ञान तथा बोलना अर्पित और अनर्पित इन दोनों के मिलने से ही शुद्ध होता है। केवली का ज्ञान तो सदा शुद्ध है पर वचन अर्पित अनर्पित मिलने से शुद्ध है।

शेष अनर्पित धर्म नेरे, सापेक्ष श्रद्धा बोध।
उभय रहित भासन हुवे रे, प्रगटे केवल बोधो रे ॥ कुं० ॥ ६ ॥

अर्थः—जो वचन कहने में नहीं आये, उस अनर्पित धर्म की भी सापेक्ष श्रद्धा व बोध रखना चाहिये। छद्मस्थ समकिती, देश विरती, क्षीणमोही पर्यन्त ऐसा ही जानना चाहिये। अर्पित व अनर्पित दोनों से रहित केवली भगवान का ज्ञान है जो एक ही समय में सबका ज्ञायक है, उसमें अर्पित व अनर्पित भाव नही है, वचन में ही अर्पित तथा अनर्पित भाव है।

छति परिणति गुण वर्तना रे, भासन भोग आणंद
समकाले प्रभु ताहरे रे, रम्य रमण गुण वृंदो रे ॥कुं० ॥७॥

अर्थः—हे प्रभु ! ज्ञान दर्शनादि सब गुणों की अस्ति, परिणति, वर्त्तना भासन, भोग और भोग का आनन्द यह सब परिणमन एक समय में ही आपको हैं इसलिये रमण योग्य आत्मगुण समूह में ही आप रमण करते हैं।

विशेषः—प्रभु में अनन्त गुण पर्याय हैं; स्वभाव गुण पर्याय की परिणति रूप परिणामिकता जो उत्पाद् व्यय और ध्रुव रूप से तथा षड़ गुण हानि वृद्धि रूप से द्रव्यों में परिणमति है वही ज्ञानादि गुण पर्याय की वर्त्तना है। ज्ञान से प्रभु जानते हैं, दर्शन से देखते हैं, चारित्र से रमते हैं, कर्त्तापन से करते हैं और भोक्तापन से भोगते हैं। इस भांति सब गुण अपनी अपनी वर्त्तना में वर्त्तते हुये अपना अपना कार्य करते हैं। उन सब गुण पर्यायों का प्रभु को भासन है, भोग है और भोग का आनन्द है। यह सब परिणमन एक समय ही प्रभु में है इसलिये वे अनन्त परमानन्द रूप है।

निज भावे सिय अस्तिता रे, पर नास्तित्व स्वभाव।
अस्तिपणे ते नास्तिता रे, सिय ते उभय स्वभावो रे ॥कुं० ॥८॥

अर्थः—निज भाव से स्यात् (कथंचित) अस्ति धर्म पदार्थ मे है, पर द्रव्य से स्यात् नास्ति धर्म है, यह अस्ति नास्ति धर्म द्रव्य मात्र में है एवं उभय रूप अवक्तव्य धर्म भी द्रव्य में है।

विशेषः—(१) यहां वर्तमान पर्याय के अस्ति धर्म को ही ग्रहण किया गया है। प्रभु में ज्ञान दर्शनादि स्वपर्याय की परिणति है यह 'स्यात् अस्ति' भेद है।

(२) अचेतनादि पर-धर्म तथा अपनी अतीत अनागत पर्याय का अभाव यह दूसरा "नास्तिधर्म" है। द्रव्य का यह 'नास्तिधर्म' न कहा जावे तो कोई समय अद्वैत वेदान्त के समान जीव और जड़ यह दोनों एक हो जावें।

(३) वचन गोचर धर्म से वचन अगोचर धर्म अनन्त गुणे हैं इसलिये द्रव्य में स्यात् अवक्तव्य' धर्म है इन तीन मुख्य भेदों से चार अन्य भेद फलित होते हैं।

कोई केवल पर्यायास्तिक नय की ही सप्तभंगी कहते है पर यह घटती नहीं क्योंकि वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। ऊपर कहे गये तीन भेद सकलादेशी हैं इसलिये द्रव्यास्तिक नयी है, इसमें संग्रह और व्यवहार नय की प्रवृत्ति है, अन्य चार भेद विकलादेशी हैं इसलिये पर्यायास्तिक है क्योंकि यह वस्तु के अंश को ग्रहण करते हैं।

अस्ति स्वभाव जे आपणों रे, रुचि वैराग्य समेत।
प्रभु सन्मुख वन्दन करी रे, मांगीश आतम हेतो रे ॥कुं०॥९॥

अर्थः—ज्ञानदर्शन एवं पूर्णानन्दता रूप जो मेरा सत्तागत अस्ति स्वभाव है उसकी तीक्ष्ण रूचि और वैराग्य पूर्वक मैं इच्छा करता हूँ तथा प्रभु के सन्मुख खड़े होकर और वन्दन करके मांगता हूँ कि हे जगदीश! मुझे तारो, मेरा अस्ति स्वभाव प्रगट करो, मेरी आत्मा का हित करने वाला समकित सहित चारित्र प्रदान करो।

अस्ति स्वभाव रुचि थई रे, ध्यातो अस्ति स्वभाव।
देवचन्द्र पद ते लहे रे, परमानन्द जमावो रे ॥कुं० ॥१०॥

अर्थः—हे भव्य जीवों! जो तुम शास्वत सुख के अभिलाषी हो तो अपने अस्ति स्वभाव के अभिलाषी होकर अस्ति स्वभाव का ध्यान करते हुये देवचन्द्र पद को प्राप्त करो जिसमें परमानन्द का जमाव है।

अष्टादश श्री अरनाथ जिन स्तवनं

रामचन्द्र के बाग में चंपो मोरी रह्यो री ।। ए० देशी ।।

प्रणमो श्री अरनाथ, शिवपुर साथ खरो री ।
त्रिभुवन जन आधार, भव निस्तार करो री ।।१।।

अर्थः—श्री अरनाथ भगवान को बारम्बार नमस्कार करो । इन प्रभु को मन मन्दिर में स्थापित करने से ही शिवपुर में पहुंचा जा सकता है इसलिये शिवपुर का यही सच्चा साथ है । ये प्रभु तीन भुवन के लोगों के आधार है और चार गति रूप संसार से निस्तार करने वाले हैं ।

कर्ता कारण योग, कारज सिद्धि लहे री ।
कारण चार अनूप, कार्यार्थी तेह ग्रहे री ।।२।।

अर्थः—कर्त्ता जब कारण का योग पाता है तब कार्य सिद्धि होती है । चार अनुपम कारणों को कार्यार्थी ग्रहण करता है तब कार्य होता है । यद्यपि उपादान और निमित्त में सब का समावेश हो जाता है तो भी विस्तार रुचि के लिए चार कारण कहे हैं ।

जे कारण ते कार्य, थाये पूर्ण पदे री ।
उपादान ते हेतु, माटी घट ते वदे री ।।३।।

अर्थः—जो कारण पूर्णता के अवसर पर कार्य रूप हो उसे उपादान कारण कहते है जैसे घट रूप कार्य का मिट्टी उपादान कारण है ।

उपादान थी भिन्न, जे विणु कार्य न थाये ।
न हुवे कारज रूप, कर्त्ता ने व्यवसाये ।।४।।

कारण तेह निमित्त, चक्रादिक घट भावे ।
कार्य तथा समवाय, कारण नियतने दावे ।।५।।

अर्थः—उपादान कारण से जो भिन्न हो, जिसके बिना कार्य न हो किन्तु जो कभी कार्यरूप में परिवर्तित न हो और जिसमें कारणता कर्त्ता के उद्यम से हो वह निमित्त कारण है, जैसे घट भाव से घट कार्य है, उसमें दंड, चक्र, चीवर निमित्त और मिट्टी

उपादान है। उपादान को कार्य रूप देते हुए जो उपकरण कर्त्ता द्वारा काम में लाये जांय वह निमित्त कारण हैं। अप्रयुक्त काल में उपकरणों को कारणता नहीं है।

वस्तु अभेद स्वरूप, कार्यपणु न ग्रहेरी।
ते असाधारण हेतु, कुंभे थास लहेरी ॥६॥

अर्थः—जो वस्तु उपादान से अभेद स्वरूप है पर कार्यपन नहीं पाती वह असाधारण कारण है जैसे घट रूप कार्य करते हुये स्थास, कोश, कुशूल रूप अवस्था होती है वह मृदु पिंडरूप मिट्टी से अभेद है परन्तु घट रूप कार्य होने पर नहीं रहती; इसलिये असाधारण कारण है।

जेहनो नवि व्यापार, भिन्न नियत बहुभावी।
भूमि काल आकाश, घट कारण सद्भावी ॥७॥

अर्थः—जिस कारण का व्यापार-प्रवर्त्तन नहीं, जिसे प्राप्त करने के लिये कर्त्ता को प्रयास नहीं करना पड़ता, नियम से जिसकी आवश्यकता है, जो अन्य अनेक कार्यों में भी कारण है उसे अपेक्षा कारण जानना चाहिये जैसे भूमि, काल, आकाश के बिना घटादि कोई कार्य नहीं हो सकता तथा यह वस्तुयें घट रूप कार्य के समान अनेक अन्य कार्यों की भी कारण हैं किन्तु कर्त्ता को जैसे उपादान तथा निमित्त कारण का व्यापार प्रवर्तन करना होता है वैसे इनका प्रवर्तन नहीं करना होता।

एह अपेक्षा हेतु, आगम मांहे कह्योरी।
कारण पद उत्पन्न, कार्य थये न लह्योरी ॥८॥

अर्थ :—इस अपेक्षा कारण को आगम में कहा है। कारणता कर्त्ता द्वारा उत्पन्न की जाती है और कार्य होने पर नहीं रहती है अगले चार पदों में सिद्धता रूप कार्य के चारों कारण कहे हैं।

कर्त्ता आतम द्रव्य, कार्य सिद्धि पणोरी।
निज सत्तागत धर्म, ते उपादान गणोरी ॥९॥

अर्थ :—सिद्धता रूप कार्य आत्मा का अभेद स्वरूप है इसलिये इसका कर्त्ता आत्म-द्रव्य है। निज सत्तागत ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुण सिद्धता रूप कार्य होते हैं इसलिये इस सत्तागत धर्म को उपादान जानना चाहिये।

योग समाधि विधान, असाधारण तेह वदे री।
विधि आचरणा भक्ति, जिणे निज कार्य सधे री ॥१०॥

अर्थ :—मन, वचन और काया के योग स्वगुण में रमण करे तो उसे आत्म समाधि जानना चाहिये इसका विधान करना चाहिये अर्थात् चतुर्थ गुण स्थान से सिद्धता पर्यन्त गुण वृद्धि करना चाहिये। साधक अवस्थाकी ये तरतमता असाधारण कारण है। विधि सहित आचरण भक्ति और गुणी का बहुमान आदि करने से अपने कार्य की सिद्धि होती है। असाधारण कारण आत्मगुण रूप उपादान की न्यूनता की भिन्न भिन्न अवस्थायें हैं सदा पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय की कारण है। इसमें क्रिया काल और निष्ठा काल का अभेद है।

नरगति पढम संघयण, तेह अपेक्षा जाणो।
निमित्ताश्रित उपादान, तेहने लेखे आणो ॥११॥

अर्थ :—मनुष्यगति वज्रऋषभनाराच संघयण इत्यादिक सिद्धतारूप कार्य के अपेक्षा कारण है, इनमें कर्त्ता का व्यापार नही है पर इनके बिना मोक्षरूप कार्य नहीं हो सकता जो उपादान निमित्ताश्रित होवे तो उसकी मनुष्य गति आदि लेखे जानना किन्तु जिसने देव गुरु और सिद्धान्त रूप निमित का आश्रय नही लिया उसकी मनुष्य गति आदि कारणता में नहीं है, वह अनादि की चाल में है।

निमित्त हेतु जिनराज, समता अमृत खाणी।
प्रभु अवलबन सिद्धि नियमा एह वखाणी ॥१२॥

अर्थ:—सिद्धता रूप कार्य के निमित्त कारण जिनराज है, जो समता रस रूप अमृत की खान हैं, ऐसे प्रभु के अवलंबन से अवश्य सिद्धता प्राप्त होती है ऐसा आगम में कहा है।

पुष्ट हेतु अरनाथ, तेहने गुणथी हलिये।
रीझ भक्ति बहुमान, भोग ध्यान थी मलिये ॥१३॥

अर्थ:—श्री अरनाथ प्रभु सिद्धता रूप कार्य के पुष्ट निमित्त कारण हैं। उनके गुणों से हिलमिल जाना चाहिये अर्थात् प्रीति भक्ति और बहुमान पूर्वक गुण आस्वादन ध्यान से इन प्रभु से मिलना चाहिये।

मोटाने उत्संग, बैठाने सी चिन्ता।
तिम प्रभु चरण पसाय, सेवक थया निचिन्ता ॥१४॥

अर्थ:—बड़ों की गोद में बैठने वालों को क्या चिन्ता है? जैसे वे चिन्ता रहित हो जाते हैं वैसे ही प्रभु के चरणों के प्रसाद से सेवक निश्चिन्त हो जाता है।

अर प्रभु प्रभुता रंग, अन्तर शक्ति विकासी।
देवचन्द्र ने आणन्द, अक्षय भोग विलासी ॥१५॥ इति॥

अर्थ:—स्तुतिकार देवचन्द्र जी कहते हैं कि अरनाथ प्रभु की शुद्ध ज्ञायकता, रमणता, अनुभवता, असंगता, निरावरणता के रंग में जो रंग जाता है वह अंतरंग शक्ति का विकाश करने वाला साधक अक्षय आनंद के भोग के विलास को पाता है।

एकोन विंशति श्री मल्लिनाथ जिन स्तवन

(देखी कामिनी दोय के, कामे व्यापियां रे ।। ए देशी)

मल्लिनाथ जगनाथ, चरण युग ध्याइये रे ।।च०।।
शुद्धातम प्रागभाव, परम पद पाइये रे ।। प० ।।
साधक कारक षट्क, करे गुण साधना रे ।। क० ।।
तेहिज शुद्ध सरूप, थाय निराबाधना रे ।। था० ।। १ ।।

अर्थ—मल्लिनाथ भगवान तीनों जगत के स्वामी हैं इनके युगल चरणों को ध्याइये और शुद्धातम प्रागभाव रूप परमपद को पाइए, साधक के छओं कारक आत्म-गुणों की साधना करते हैं और वे ही छहों कारक निराबाध-सिद्ध परमात्मा में शुद्ध रूप से प्रवर्त्तते हैं।

विशेष:—अनादिकाल से यह कारक चक्र अशुद्ध रूप से परिणमन कर रहा है इसलिये जीव भव भ्रमण करता है। जब साधक स्वधर्म प्रगट करने के लिये तथा रूप से परिणमन करता है तब यह कारक चक्र निज गुण की साधना करते हुये स्वधर्म प्रगट करते हैं। प्रत्येक कार्य में कारक प्रवृत्ति की कारणता है। यह कारक चोथे गुण स्थान से नीचे के जीवों के बाधक रूप से और चतुर्थ गुण स्थान से चौदहवें गुण स्थान तक साधक रूप से तथा सिद्ध भगवन्त के शुद्ध रूप से परिणामते हैं।

कर्त्ता आतम द्रव्य, कार्य निज सिद्धता रे ।। का० ।।
उपादान परिणाम, प्रयुक्त ते करणता रे ।। प्र० ।।
आतम संपद दान, तेह सम्प्रदानता रे ।। ते० ।।
दाता पात्रने देय, त्रिभाव अभेदता रे ।। त्रि० ।।

अर्थ:—आत्म शुद्धता रूप कार्य उत्पन्न करने में प्रवर्त्तता हुआ आत्मा पहला कर्त्ता कारक है। (२) सिद्धता रूप कार्य दूसरा कारक है। परिणति चक्र के प्रवर्त्तन रूप क्रिया से कार्य होता है इसलिये उस क्रिया का प्रवर्तन ही कार्य है। (३) आत्म परिणाम सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रयी उपादान है। अरिहंत आलंबन तथा आगम श्रवण, मनन आदि निमित्त कारण हैं। आत्म कार्य करने के लिये आत्मा को प्रेरित करना करण कारक है। (४) आत्मसंपदा ज्ञान दर्शन चारित्र पर्याय का दान आत्म गुण प्रगट करने के लिये देना संप्रदान कारक है। यहां देने वाला भी आत्मा, लेनेवाला भी आत्मा और दान भी आत्म धर्म का इन तीनों भावों की अभेदता है।

स्वपर विवेचन करण, तेह अपादान थी रे ॥ ते० ॥
सकल पर्याय आधार, संबंध आस्थानथी रे ॥ स० ॥
बाधक कारक भाव, अनादि निवारवो रे ॥ अ० ॥
साधकता अवलंबि, तेह समारवो रे ॥ ते० ॥ ३ ॥

अर्थः—स्वधर्म और परधर्म का विचार पूर्वक निर्णय करना चाहिये अर्थात् ंसार कर्त्तापन और भोक्तापन छोड़कर स्वरूप कर्तापन और भोक्तापन प्रगट करना ाह पांचवा अपादान कारक है ; सकल पर्याय का आधार आत्मा है, आत्मा का आत्म र्याय से व्याप्य व्यापक, ग्राह्य/ग्राहक एवं आधार आधेय संबंध है । सब पर्याय का कारण· रूप क्षेत्र आत्मा है इस आस्थानता के लिये आत्मा आधार कारक है । यह छः कारक ाधकता के हैं । अनादि काल के बाधक कारक भाव का निवारण करके साधकता के ावलंबन से, इस कारक चक्र को संभालना चाहिये अर्थात् स्वरूपानुयायी करना चाहिये ।

शुद्धपणे पर्याय, प्रवर्तन कार्य में रे ॥ प्र० ॥
कर्त्तादिक परिणाम, ते आतम धर्म में रे ॥ ते० ॥
चेतन चेतन भाव, करे समवेत में रे ॥ क० ॥
सादि अनन्तो काल, रहे निज खेत में रे ॥ र० ॥ ४ ॥

अर्थः—शुद्ध निष्पन्न आत्मा के ज्ञानादिक पर्याय का जानने देखने रूप कार्य ा कर्त्ता आत्मा है (१) आत्म गुण का उत्पाद व्यय रूप परिणमन कार्य है २) ज्ञानादिक आत्म गुण करण है (३) आत्मगुण का लाभ संप्रदान है (४) परभाव ो त्याग परिणति अपादान है और (५) अनन्त गुण का रखना आधार है (६) इन छः ारकों का चक्र सिद्ध अवस्था में सदा स्वाधीन रूप से फिरता है इसलिये सिद्ध अवस्था ं स्वपर्याय का प्रवर्त्तन आत्म धर्म में ही है अर्थात् सब कारकों का परिणमन निज वरूप में ही है । चेतन, चेतन भाव का कर्त्ता है क्योंकि चेतन और चेतना का सम- ाय सम्बन्ध है अतएव सिद्ध भगवान सादि अनंतकाल तक अपने असंख्यात प्रदेश ूप क्षेत्र में ही बिराजते हैं ।

परकर्तृत्व स्वभाव, करे त्यां लगि करे रे ॥ क० ॥
शुद्ध कार्य रुचि भास, थये नवि आदरे रे ॥ थ० ॥
शुद्धात्म निज कार्य, रुचे कारक फिरे रे ॥ रु० ॥
तेहिज मूल स्वभाव, ग्रहे निज पद वरे के ॥ ग्र० ॥ ५ ॥

अर्थः—भावकर्म द्रव्यकर्म, और नो कर्म को यह जीव अनादिकाल से करता ाया है और तब तक करता रहेगा जब तक स्वगुण प्रगट करने रूप कार्य की रुचि न

होगी। शुद्ध स्वगुण प्रगट करने रूप कार्य का बोध तथा रुचि होने से पर–कर्तृत्व को यह जीव नहीं आदरता। शुद्धात्म स्वरूप निज कार्य की रुचि होने से कारक चक्र फिर जाता है और तब उसी ज्ञान स्वरूप–मूलस्वभाव को यह जीव ग्रहण करता है तथा पूर्णानन्द रूप निज पद को वरता है। तात्पर्य यह है कि जब यह जीव, भेद–ज्ञान–धारा द्वारा पर विभंजन करके अपने स्वरूप को जान लेता है तब सारा कारक चक्र स्वकार्य आश्रित हो जाता है और मूल स्वभाव को ग्रहण करके सिद्ध पद को पाता है।

> कारण कारज रूप, अछे कारक दशा रे ॥ अ० ॥
> वस्तु प्रगट पर्याय, एह मन में वस्या रे ॥ ए० ॥
> पण शुद्ध स्वरूप ध्यान, ते चेतनता ग्रहे रे ॥ ते० ॥
> तब निज साधक भाव, सकल कारक लहे रे ॥ स० ॥ ६ ॥

अर्थः—यह कारक दशा कारण और कार्य रूप है। यह मन में बसा हुआ है कि आत्म वस्तु के छः कारक प्रगट निरावरण पर्याय हैं, यद्यपि विकारी होने से मूल स्वरूप से चूक गये हैं तो भी कर्त्तापन को आवरण नहीं है क्योंकि कर्त्तापन जीवका विशेष स्वभाव है। (जो द्रव्य गुण पर्याय इन सब में वर्त्ते उसे स्वभाव कहते हैं। विशेष स्वभाव बिगडता है पर उसके आवरण नहीं है) किन्तु गुण और पर्याय को आवरण हैं। चेतना तथा वीर्य पर आवरण होने से कर्त्तापन की प्रवृत्ति मंद अवश्य होती है परन्तु कर्त्तापन मूल रूप से नहीं ढकता। जब कर्त्ता के आवरण नहीं है तो कारक चक्र के भी आवरण नहीं हो सकता। जो कारक चक्र के आवरण हो तो आश्रव बंध पद्धति कौन करे ? जब चेतना अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान ग्रहण करती है तो सब कारक भी अपने विकारी भाव को त्यागकर साधक भाव को प्राप्त करते हैं।

> माहरुं पूर्णानन्द, प्रगट करवा भणी रे ॥ प्र० ॥
> पुष्टालंबन रूप, सेव प्रभुजी तणी रे ॥ से० ॥
> देवचन्द्र जिनचन्द्र, भक्ति मन में धरो रे ॥ भ० ॥
> अव्याबाध अनन्त, अक्षय पद आदरो रे ॥ अ० ॥ ७ ॥

अर्थः—देवचन्द्रजी अपने आपको तथा अन्य भव्य जीवों को संबोधन करके कहते हैं कि 'मेरे पूर्णानन्द को प्रगट करने के लिये श्री जिनराज की सेवना पुष्टालंबन है, श्री जिनचन्द्र जी की आज्ञारूप भक्ति को हे देवचन्द्र ! मन में स्थिर करो और परमानन्द रूप अनन्त अविनाशी पद को पावो'।

विंशतितम श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन

ओलंगडी ओलंगडी सुहेली हो, श्री श्रेयांसनी रे ॥ ए देशी ॥

ओलंगडी ओलंगडी तो कीजे, श्री मुनिसुव्रत स्वामीनी रे ।
जेहथी निज पद सिद्धि ॥
केवल ज्ञानादिक गुण उल्लसे रे ।
लहिए सहेज समृद्धि ॥ओ० ॥१॥

अर्थ—श्री मुनिसुव्रत भगवान की सेवा अर्थात् गुण ग्राम अवश्य करना चाहिये जिससे अपने पद की निष्पत्ति हो, केवल ज्ञानादि गुण उल्लसित हो तथा सहज स्वरूप की समृद्धि प्राप्त हो।

उपादान उपादान निज परिणति वस्तुनीरे, पण कारण निमित्त आधीन ।
पुष्ट अपुष्ट दुविध ते उपदिश्योरे, ग्राहक विधि आधीन ॥ ओ० ॥२॥

अर्थ—उपादान वस्तु की निज परिणति है—मूल धर्म है किन्तु वह निमित्त कारण के आधीन है, निमित्त कारण के पुष्ट और अपुष्ट दो भेद आगम में कहे हैं। जो कर्त्ता विधि पूर्वक प्रवर्तन करे तो वह निमित्त कारण कार्य का हेतु होता है जैसे श्री अरिहंत देव मोक्ष के निमित्त कारण है, आगम में कहे अनुसार जो आशातना टाल के ज्ञानादि गुणो की पहचान सहित सेवना करे तो मोक्ष की हेतु है किन्तु अविधि से सेवना करे तो कार्य की सिद्धि नही होती।

साध्य साध्य धर्म जे मांहे होवे रे, ते निमित्त अतिपुष्ट ।
पुष्प मांहे तिल वासक वासना रे, ते नवि प्रध्वंसक दुष्ट ॥ ओ० ॥ ३ ॥

अर्थः—साध्य-करने योग्य कार्य धर्म जिस कारण में हो वह पुष्ट निमित्त कारण है, जैसे पुष्प में तिल को वासित करने की सुगंध है किन्तु सुगंधित करने रूप कार्य को ध्वंस करने की दुष्टता नही है इसलिये पुष्प पुष्ट निमित्त है वैसे ही श्री अरिहंत देव मोक्ष रूपी कार्य के पुष्ट निमित्त हैं जो विधि पूर्वक सेवना की जाय तो अवश्य सिद्धि होती है।

दंड दंड निमित्त अपुष्ट घडा तणो रे, नवि घटता तसु मांह ।
साधक साधक प्रध्वंसकता अछे रे, तिणे नहीं नियत प्रवाह ॥ ओ० ॥ ४ ॥

अर्थः—दंड घड़े का अपुष्ट निमित्त है क्योंकि जैसे फूल में सुगंध है वैसे दंड में घटपना नहीं है, साधक–कर्त्ता की प्रेरणा से कारणता है। जो घट ध्वंस कार्य में साधक प्रवर्तन करे तो घट प्रध्वंस की कारणता भी दंड में है इसलिये इसमें निश्चय एक प्रवाह नहीं है।

षट् कारक षट् कारक ते कारण कार्य नो रे, जे कारण स्वाधीन।
ते कर्त्ता ते कर्त्ता सहु कारक ते वसु रे, कर्म ते कारण पीन ॥ ओ० ॥ ५ ॥

अर्थः—(१) कर्त्ता (२) कर्म (कार्य) (३) करण (४) संप्रदान (५) अपादान (६) अधिकरण–यह छः कारक प्रत्येक कार्य पैदा करने के कारण हैं, जहां कर्त्ता क्रिया करता है वहां सहज रूप से यह छःहों कारक होते हैं। कार्य उत्पन्न करने का स्वाधीन कारण कर्त्ता है, उस कर्त्ता के बस में सब कारक हैं। दूसरा 'कर्म' कारक है जो कारण द्वारा पुष्ट हो एवं किया जाय वह कर्म कारक है। कर्त्ता आत्मा और सिद्धता रूप कार्य अभिन्न है इसलिये इसके कारक भी अभिन्न हैं तथा जहां कार्य भिन्न होता है वहां कारक भी भिन्न होते हैं।

कार्य कार्य संकल्पे कारक दशा रे, छती सत्ता सद्भाव।
अथवा तुल्य धर्म ने जोयबे रे, साध्यारोपण दाव ॥ ओ० ॥ ६ ॥

अर्थः—(कर्म तो कार्य है उसको कारण क्यों कहते हो? इसका स्पष्टीकरण इस पद में किया है) कार्य करने के पहले जीव संकल्प करता है इसलिये संकल्प करना कार्य का कारण है। दूसरे मूल उपादान में सत्ता से कार्य उत्पन्न करने की योग्यता है, यह सत्तागत योग्यता होने वाले कार्य का कारण है। तीसरे साध्यरूप निष्पन्न तत्व में समान गुणों को देखकर कार्य करने का उद्यम अधिक होता है इसलिये भी कार्य में कारणता है। तात्पर्य यह है कि साध्य का आरोपण करना ही कर्म में कारकता हैं।

अतिशय अतिशय कारण कारक करण तेरे, निमित्त अने उपादान।
संप्रदान संप्रदान कारण पद भवनथी रे, कारण व्यय अपादान ॥ ओ०। ७॥

अर्थः—करण कारक को अत्यन्त उत्कृष्ट कारणता है, इसके उपादान और निमित्त दो भेद हैं। उपादान में नये नये कारण पर्याय का लाभ यह संप्रदान कारक है अथवा कार्य पद का निर्माण संप्रदान कारक है एवं जीर्ण कारण पर्याय का व्यय अपादान कारक है। सम्प्रदान व अपादान में क्या कारणता है? इसका उत्तर अगले पद में है।

भवन भवन व्यय विणु कारज नवि होवे रे, जिम दृषदें न घटत्व।
शुद्धाधार शुद्धाधार स्वगुण नो द्रव्य छे रे, सत्ताधार सुतत्त्व ॥ ओ० ॥ ८ ॥

अर्थः—भवन याने नव निर्माण एवं पूर्व पर्याय के नाश बिना कार्य नहीं हो सकता। पत्थर में घट पर्याय के निर्माण की योग्यता नहीं है इसलिये पत्थर से घड़ा नहीं बन सकता। मिथ्यात्व पर्याय के व्यय तथा सम्यक् पर्याय के भवन बिना सिद्धता रूप कार्य नहीं हो सकता इसलिये सम्प्रदान व अपादान में कारणता है। स्वगुण का आधार शुद्ध द्रव्य ही है जैसे जीव द्रव्य, ज्ञान दर्शन कतृता चारित्र, वीर्य, दान, लाभ, भोग, उपभोग, अव्याबाध, अमूर्त्तता, अगुरुलघुता, अखंडता, निर्मलता, कर्त्तृता, पारिणामिकतादि सब मूल गुणों का आधार है तात्पर्य यह है कि निरामय मूल धर्म का आधार सुतत्व है, यह आधार कारक में कारकता है।

विशेषः—सब द्रव्य अपने अपने गुणों के आधार हैं इसलिये धर्मास्तिकाय आदि की कारकता कोई पूछे तो उत्तर यह है कि धर्मास्तिकाय आदि में यद्यपि गुणाधारीपन है परन्तु कर्तृत्व नहीं है इसलिये कारकता की गवेषणा नहीं की गई।

आतम आतम कर्त्ता कार्य सिद्धता रे, तसु साधन जिनराज।
प्रभु दीठे प्रभु दीठे कारज रुचि उपजेरे, प्रगटे आत्म समाज॥ ओ० ॥ ९ ॥

अर्थः—आत्मा कर्ता है, सिद्धता कार्य है उस कार्य के साधन रूप निमित्त कारण जिनराज हैं अतएव प्रभु के दर्शन से सिद्धता रूप कार्य करने की रुचि उत्पन्न होती है जिस से आत्म साम्राज्य प्रगट होता है।

विशेषः—मोक्ष का कर्त्ता आत्मा अवश्य है, किन्तु मोक्ष की रुचि बिना कर्त्तापन प्रगट नहीं होता और वह रुचि श्री अरिहंत प्रभु के दर्शन से उत्पन्न होती है अतएव अरिहंत प्रभु का दर्शन उस रुचि का कारण है और वह रुचि मोक्ष की कारण है। इस भांति मोक्ष रूप कार्य के मूल कारण श्री अरिहंत ही हैं।

वदन वंदन नमन सेवन बलि पूजना रे, स्मरण स्तवन वलि ध्यान।
देवचन्द्र देवचन्द्र कीजे जगदीशनुँ रे, प्रगटे पूर्ण निधान ॥ओ०॥१०॥

अर्थः—कर जोड़न, शीशनमन, आज्ञा मानने रूप सेवना, पुष्पादि की पूजना, गुणों का स्मरण, गुण कथन रूप स्तवन, एकाग्रता रूप ध्यान, यह सब सेवा के उपाय हैं। महामुनि देवचन्द्र जी अपने आपको तथा अन्य भव्य जीवों को कहते हैं कि जगदीश की यह सब सेवा करने से परमानन्द रूप परम निधान प्रगट होता है।

एक विंशति श्री नमिनाथ जिन स्तवन

(पीछोलारी पाल, ऊभा दोय राजवी रे ॥उ०॥ए देशी)

श्री नमि जिनवर सेव, घनाघन उनम्यो रे ॥ घ० ॥
दीठां मिथ्या रौरव, भविक चित्तथी गम्यो रे ॥ भ० ॥
शुचि आचरणा रीति ते, अभ्र वधे वडा रे ॥ अ० ॥
आतम परिणति शुद्ध, ते बीज झबूकडा रे ॥ते०॥१॥

अर्थः—श्री नमि जिनवर का सेवा रूप घनघोर मेह जब उमड़ पड़ता है तो उसे देखकर मिथ्यात्वरूप दुष्काल का भय भविक लोगों के चित्त से जाता रहता है, पुद्गल आकांक्षा रहित पवित्र आचरणा रूप बादलों का समूह बहुत बढ़ जाता हैं एवं शुद्ध आत्म परिणति रूप बिजली के झबूके होते हैं।

बाजे वायु सुवायु, ते पावन भावना र ॥ ते० ॥
इन्द्र धनुष त्रिक योग, ते भक्ति एकमना रे ॥ ते० ॥
निर्मल प्रभु स्तव घोष, ध्वनि घन गर्जना रे ॥ ध्व० ॥
तृष्णा ग्रीष्मकाल, तापना तर्जना रे ॥ ता० ॥ २ ॥

अर्थः—पवित्र भावना की स्वच्छ वायु चलती है। मन, वचन, काया के तीनों योग इन्द्र धनुष के समान प्रभु भक्ति से एक रूप हो जाते हैं। प्रभु के निर्मल गुणों की स्तवना ध्वनि रूप मेघ गर्जना से तृष्णा रूपी ग्रीष्म काल का ताप जाता रहता है।

शुभ लेश्यानि आलि, ते बग पंक्ति बनी रे ॥ ते० ॥
श्रेणि सरोवर हंस, वसे शुचि गुण मुनि रे ॥ व० ॥
चौगति मारग बंध, भविक निज घर रह्या रे ॥ भ० ॥
चेतन समता संग, रंग में ऊमह्या रे ॥ रं० ॥ ३ ॥

अर्थः—शुभ लेश्या की उज्वलता यहां बक पंक्ति है। बरसात में जैसे हंस सरोवर में जा बसते हैं वैसे ही पवित्र मुनिराज जिन भक्ति के योग से उपशम व क्षपक श्रेणी में जा बसते हैं। जिस प्रकार बरसात में मार्ग बंद होजाता है उसी प्रकार जिन भक्ति के योग से चार गति रूप संसार का मार्ग बंद हो जाता है। इससे भविक जन आत्मगृह में ही रहते हैं अर्थात चेतन समता पूर्वक उमंग सहित अनुभव रंग में रमण करता है।

सम्यगदृष्टि मोर, तिहां हरखे घणुँ रे ।।ति०।।
देखी अद्भुत रूप, परम जिनवर तणुँ रे ।।प०।।
प्रभु गुणनो उपदेश, ते जलधारा वही रे ।।ते०।।
धर्म रुचि चित्त भूमि, मांहे निश्चल रही रे ।।मां० ।।४।।

अर्थः—परम शीतल निर्विकारी परमेश्वर का अद्भुत रूप देखकर सम्यकदृष्टि तत्वरुचि जीव रूपी मयूर को अत्यन्त हर्ष होता है। प्रभु के गुणगान रूप मेघ की जलधारा बहकर धर्मरुचि जीव की चित्त भूमि में निश्चल रहे।

चातक श्रमण समूह, करे तब पारणो रे ।।क०।।
अनुभव रस आस्वाद, सकल दुःख वारणो रे ।।स०।।
अशुभाचार निवारण, तृण अंकुरता रे ।।तृ०।।
विरति तणा परिणाम, ते बीजनी पूरता रे ।।ते०।।५।।

अर्थः—प्रभु सेवना रूप मेह से श्रमण समूह रूप चातक पारणा करते हैं मुनिजनों को तत्व स्वरूप प्राप्त करने की जो पिपासा उत्पन्न हुई थी वह जिनभक्ति रूप कारण पाकर अनुभव रस आस्वादन रूप पारणा करती है जो सकल विभाव रूप दुःख का निवारण करने वाला है। इस भांति अशुभाचार के निवारण से तृण अंकुरित होते हैं यहां विरति परिणाम ही बीजों की पूरता है – बोना है।

पंच महाव्रत धान्य, तणां कर्षण वध्यां रे ।।त०।।
साध्य भाव निज थापी, साधनतायें सध्यां रे ।।सा०।।
क्षायिक दरिसण ज्ञान, चरण गुण उपन्या रे ।।च०।।
आदिक बहु गुण सस्य, आतम घर नीपन्या रे ।।आ०।।६।।

अर्थः—पंच महाव्रत रूप धान्य की खेती उत्सर्गालबी होकर वृद्धि पाती है। आत्मभाव को साध्यरूप मानकर महाव्रत परिणति रूप साधना से परिणमन करते हुये क्षायिक केवल ज्ञान, केवल दर्शन यथाख्यात चारित्र प्रमुख गुण उत्पन्न होते हैं। इस भांति जिन भक्ति से बहुत से स्वगुण रूप धान्य आत्मगृह में उत्पन्न होते हैं।

प्रभु दरिसण महामेह, तणे प्रवेशमें रे ।।त०।।
परमानन्द सुभिक्ष थयो, मुझ देशमें रे ।।य०।।
देवचन्द्र जिनचन्द्र, तणो अनुभव करो रे ।।त०।।
सादि अनन्तो काल, आतमसुख अनुसरो रे ।।आ०।।७।।

अर्थः—प्रभु दर्शन रूप मेह मे प्रवेश करने से असंख्यात प्रदेश रूप मेरे आत्म देश में परमानंद रूप सुकाल हुआ। स्तुतिकर्त्ता स्वयं को संबोधन करते हुये कहते हैं कि हे देवचन्द्र ! श्री जिनचन्द्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग के ज्ञानादि गुणों का अनुभव करो और सादि अनन्त काल तक अविनाशी आत्म सुख का आस्वादन करो।

द्वाविंशति श्री नेमिनाथ जिन स्तवन

(पद्मप्रभ जिन जइ अलगा वस्या ॥ ए देशी)

नेमि जिनेश्वर निज कारज कर्यूं, छांड्यो सर्व विभावो जी ।
आतम शक्ति सकल प्रकट करी, आस्वाद्यो निज भावो जी ॥ने०॥१॥

अर्थः—सब विभाव का त्याग करके श्री नेमि जिनेश्वर ने अपना सिद्धता रूप कार्य किया । आत्म समाधि रूप सम्पूर्ण शक्ति प्रगट करके निरावरण आत्म धर्म का आस्वादन किया, स्वरूप भोक्तृत्व रूप से अपने आत्म धर्म को भोगा ।

राजुल नारी रे सारी मति धरी अवलंब्या अरिहंतो जी ।
उत्तम संगे रे उत्तमता बधे, सधे आनन्द अनन्तो जी ॥ने०॥२॥

अर्थः—नारीरत्न श्री राजुल जी ने उत्तम बुद्धि अंगीकार की जो भर्त्तार पने के अशुद्ध राग को त्याग कर देवतत्व के राग को स्वीकार किया अर्थात् अरिहंत देव का अवलंबन लिया । उत्तम जन के संग से उत्तमता बढ़ती है और अनन्त सुख उत्पन्न होता है ।

धर्म अधर्म आकाश अचेतना, ते विजाति अग्राह्यो जी ।
पुद्गल ग्रहवे रे कर्म कलंकता, बाधे बाधक बाह्यो जी ॥ने० ॥३॥

अर्थः—श्री राजुल जी ने विचारा कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय यह तीनों अचेतन हैं, विजातीय हैं इसलिये इन तीनों को ग्रहण नहीं किया जा सकता । यद्यपि पुद्गल के संग जीव का चिर परिचय है पर इसके ग्रहण से तो यह जीव अनादि काल से कर्म कलंकित हो रहा है । बाधक भाव—स्वगुण रोधकता और बाह्य भीड़ बढ़ती है

रागी संगे रे राग दशा बधे, थाये तेणे संसारो जी ।
नीरागीथी रे रागनुं जोडवुं, लहिए भवनो पारो जी ॥ने० ॥४॥

अर्थः—संसारी जीव राग-द्वेष मय हैं इसलिये उनके साथ राग करने से राग दशा बढ़ती है और चतुर्गतिरूप संसार की वृद्धि होती है किन्तु निरागी परमात्मा से राग करने से यह जीव भव समुद्र से पार हो जाता है ।

विशेष—यद्यपि क्षय तो राग का ही करना है पर राग को नाश करने का सबसे श्रेष्ठ व सुगम उपाय यह है कि सब बाह्य वस्तुओ से प्रेम हटा कर निरागी वीतराग से प्रेम किया जावे। वे निरागी प्रभु राग नही करते हे अतएव अनुक्रम से अपना भी राग क्षय हो जाता है।

अप्रशस्तता रे टाली प्रशस्तता, करतां आश्रव नासे जी।
संवर वाधे रे साधे निर्जरा, आतम भाव प्रकाशे जी ॥ने०॥५॥

अर्थः—काम रूप अप्रशस्त राग को त्याग कर गुणी के प्रति राग करने को प्रशस्त राग कहते है। इस प्रशस्त राग से आश्रव नाश होता है। नये कर्म ग्रहण करने रूप अशुद्ध परिणति के नाश होने से संवर परिणति बढ़ती है, पूर्वकृत कर्म की निर्जरा सधती है और आत्मा का भाव धर्म प्रकाशित होता है।

नेमि प्रभु ध्याने रे एकत्वता, निजतत्त्वें एक तानो जी।
शुक्ल ध्याने रे साधि सुसिद्धता, लहिये मुक्ति निदानोजी ॥ने०॥६॥

अर्थः—नेमिनाथ प्रभु के ध्यान की तन्मयता से राजुल जी ने निज आत्म-तत्व में एकतानता प्राप्त की और स्वरूप एकत्व से शुल्क ध्यान सिद्ध करके निज-साध्यता साधी और अन्त में सर्व कर्म से मुक्ति प्राप्त की "स्वरूप एकत्व ही शुक्ल ध्यान है"।

अगम अरूपी रे अलख अगोचरु, परमातम परमीसो जी।
देवचन्द्र जिनवरनी सेवना, करतां वाधे जगीशो जी ॥ने०॥७॥

अर्थः—नेमिनाथ प्रभु अगम है क्योकि इनके गुणो मे सामान्य जनो का प्रवेश नही है, अरूपी है क्योकि वर्ण, गध, रूप, रस और संस्थान रहित है, अलख है क्योंकि पुद्गलाभिलाषी एकान्तवादी इन्हे पहिचान नही सकते, अगोचर है क्योंकि इन्द्रियों द्वारा इनके गुण जाने नही जा सकते विभाव रहित, अनन्त गुण प्रागभाव रूप तथा सहज अनन्त गुण पर्याय धर्म के ईश्वर है। नरदेव-चक्रवर्ती, भावदेव, चार निकाय के देव, धर्मदेव, मुनिराज, स्थविर कल्पी, जिनकल्पी, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपरायी, उपशांत मोही, क्षीण मोही, आचार्य, उपाध्याय श्रुतधर पूर्वधर गणधर प्रमुख में चन्द्रमा समान जिनवर की आज्ञा मानने रूप सेवना करते हुये साधक संपदा बढ़ती है। द्रव्य से वंदन नमनादिक तथा भाव से गुण का बहुमान, आज्ञा प्रमाणता रूप सेवा करते हुये अनन्त सिद्ध हो चुके है तथा भविष्य में अनन्त सिद्ध होंगे यही मोक्ष सुख का उपाय है।

त्रयोविंश श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन

(कडखानी देशी)

सहज गुण आगरो स्वामी सुखसागरो, ज्ञान वैयरागर प्रभु सवायो ।
शुद्धता एकता तीक्ष्णता भावथी, मोहरिपु जीति जय पडह वायो ।।स०।।१।।

अर्थ—पार्श्वनाथ प्रभु सहज ज्ञानादि गुणों की निधि हैं, स्वसंपदा के स्वामी हैं, अतिन्द्रिय सुख के सागर हैं, केवलज्ञान रूप हीरे की खान हैं, इस भांति प्रभु सदा सर्वदा सवाये हैं । ज्ञान की शुद्धता से, तन्मयता रूप चारित्र की एकता से तथा वीर्य की तीक्ष्णता से मोहरिपु को जीतकर प्रभु ने जय दुंदभी बजवाई है ।

विशेष:—ज्ञान प्रकाश करने वाला है, चारित्र की एकता प्रेरणा करने वाली है और वीर्य की तीक्ष्णता धारा है, इन तीनों के मिलने से मोक्ष है । कोई कहे कि 'दर्शन' को क्यों नहीं कहते ? इसका उत्तर यह है कि दर्शन युक्त ज्ञान को ही ज्ञान कहा है इसलिये ज्ञान में दर्शन का समावेश हो जाता है एवं वीर्य की तीक्ष्णता ही तप है, अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान चारित्र और तप के बल से प्रभु विजयी हुये हैं ।

वस्तु निजभाव अविभास निःकलंकता, परिणति वृत्तिता करी अभेदे ।
भाव तादात्म्यता शक्ति उल्लास थी, संतति योगने तुं उच्छेदे ।।स०।।२।।

अर्थ:—प्रभु सब द्रव्यों के गुण पर्याय को यथार्थ रूप से जानते हैं, यह शुद्धता है, शुद्ध मूल परिणति तथा वृत्ति को अभेद कर लिया है, यह एकता है एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र व वीर्य के उल्लास से सकल कर्म संतति के संयोग जन्य संबंध को सदा के लिये नाश कर दिया यह तीक्ष्णता है ।

विशेष:—संसारी जीव की मूल परिणति चारित्र मोह से आवृत है और वृत्ति राग द्वेष और पुद्गल भोग में प्रवर्तन कर रही है । उस अशुद्ध प्रवृत्ति को त्याग कर शुद्ध स्वरूप में लगाने से प्रवृत्ति तथा परिणति का एक प्रवर्तन होता है अर्थात् जो परिणति वही प्रवृत्ति, दोनों अभेद रूप हो जाती हैं यह एकता है । क्षायिक वीर्य के उल्लास से कर्म संतति के संयोग जन्य संबंध को नाश कर दिया है यह तीक्ष्णता है । पुद्गल कर्म का संयोग संबंध है । रागादि विभाव का तदुत्पत्ति—तज्जन्य संबंध है । आत्म गुणों का तादात्म्य संबंध है अर्थात समवाय संबंध है । जिस प्रकार पिता से पुत्र फिर पुत्र का पुत्र यह संतति परंपरा अनन्त काल तक चलती है उसी प्रकार पूर्वकर्म का भोग और नये का

बंध फिर उसका भोग तथा नये का बंध यह कर्म संतति परंपरा है जो अनादिकाल से जीव के साथ लगी हुई है।

दोष गुण वस्तुनो लखिय यथार्थता, लही उदासीनता अपर भावे।
ध्वंसि तज्जन्यता भाव कर्त्तापणो, परम प्रभु तुं रम्यो निज स्वभावे ॥३॥

(अगले पदों में शुद्धता एकता और तीक्ष्णता इस त्रिभंगी का अर्थान्तर कहा है)

अर्थ:—प्रभु ने सब वस्तुओं के गुण दोषों को यथार्थ रूप से जान लिया है अर्थात शुभ वस्तु को शुभ, अशुभ को अशुभ, जड़ वस्तु को जड़ रूप तथा चेतन को चेतन रूप जान लिया है यह ज्ञान की शुद्धता है। इष्टता अनिष्टता रहित भाव से जानते हैं, शुद्ध आत्म भाव के अतिरिक्त अन्य जीव तथा पुद्गल के भावों के अग्राहक अभोगी और असंगी हैं, यह चारित्र की एकता है तज्जन्य भाव से विभाव कर्तापन का छेदन किया यह तीक्ष्णता है। इस भा त हे परम प्रभु ! आपने अपनी शुद्धता व तीक्ष्णता से स्वभाव रमणता प्राप्त की है।

शुभ अशुभ भाव अविभास तहकीकता, शुभ अशुभ भाव तिहां प्रभु न कीधुं।
शुद्ध परिणामता वीर्य कर्त्ताथई, परम अक्रियता अमृत पीधुं ॥स०॥४॥

अर्थ:—प्रभु ने शुभ अशुभ भावों को जाना और परीक्षा करके निर्णय किया है यह शुद्धता है। यथार्थ रूप से सब कुछ जाना है किन्तु वहां शुभ अशुभ भाव नहीं किया,[1] यह समरसता प्रभु के चारित्र धर्म की एकता है। पारिणामिक भाव से वीर्य गुण के कर्ता होकर परम अक्रियता रूप अमृत का पान किया है अर्थात विभाव कर्तृत्व एवं साधक कर्तृत्व त्याग कर अचल वीर्य से अक्रिय हुये हैं। विभाव कर्तृत्व का नाश किया यह तीक्ष्णता है।

शुद्धता प्रभु तणी आत्मभावे रमे, परम परमात्मता तास थाये।
मिश्रभावे अछे त्रिगुणनी भिन्नता, त्रिगुण एकत्व तुज चरण आये ॥५॥

अर्थ:—प्रभु की शुद्धता–कर्म निरावरणता में जो आत्म भाव से रमण करता है उसे परम परमात्मपद प्राप्त होता है। मिश्र भाव से अर्थात क्षयंपशमिक भाव से

---

१. भगवान तद्रूप होकर जैसे निज सुख को संवेदन सहित जानते देखते हैं वैसे तद्रूप होकर पर सुख दुःखादि का संवेदन नहीं करते किन्तु पर से बिलकुल भिन्न रहकर संवेदन किये बिना पर के सुख दुःख को जानते देखते हैं।

ज्ञान दर्शन चारित्र रूप त्रिगुण की भिन्नता है किन्तु आपके चरण में—यथाख्यात चारित्र में तीनों गुणों का एकत्व है—अभेद रत्नत्रयी है।

अर्थः—क्षीण मोह गुणस्थान में एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान के उत्पन्न होने से निर्धार रूप दर्शन और स्थिरता रूप चारित्र यह दो धारायें ज्ञान धारा से अभेद हो जाती हैं। इस अभेद रत्नत्रयी का स्वरूप ध्यान गम्य है परन्तु मूल नय से आत्मा में ज्ञान और दर्शन गुण हैं ऐसी आम्नाय है शेष सब चेतन गुण की प्रवृत्ति है इसलिये ज्ञान में ही स्थिरता परिणति कहनी चाहिये। क्षयोपशमी चेतना प्रवृत्ति असंख्य समयी होती है, भासन के पीछे क्रम से स्थिरता होती है। केवलज्ञान में चेतना प्रवृत्ति एक समयी होती है इस भांति अभेद रत्नत्रयी होती है इसका विशेष खुलासा महान तत्वज्ञ श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने बृहद् आवश्यक भाष्यमें किया है।

उपशम रस भरी सर्व जन शंकरी, मूर्ति जिनराजनी आज भेटी।
कारणे कार्य निष्पत्ति श्रद्धान छे, तेणे भव भ्रमण नी भीड मेटी ॥६॥

अर्थः—उपशम रस से भरी हुई सब लोगों का कल्याण करने वाली जिनराज की मूर्ति के मैंने आज दर्शन किये हैं एवं नमस्कार रूप से सेवना की है। कारण से कार्य की निष्पत्ति है ऐसा दृढ़ श्रद्धान है। मोक्ष की निमित्त कारण जिन मुद्रा का योग हुआ है और इससे उपादान आत्मोपयोग पूर्वक हर्ष से परिणमा है इसलिये समझता हूँ कि इस जीव ने भी भव भ्रमण की भीड़ मिटाली है। (यह कारण से कर्योपचारी वचन है)

नयर खंभायतें पार्श्वप्रभु दर्शनें, विकसतें हर्ष उत्साह वाध्यो।
हेतु एकत्वता रमण परिणाम थी, सिद्धि साधक पणो आज साध्यो ॥७॥

अर्थः—खंभायत[1] नगर में श्री सुख सागर पार्श्व जिन का वंदन करते हुये प्रभु की प्रभुता पर अपूर्व राग हुआ, विकास को प्राप्त हुये हर्ष को विकस्वर करने का उत्साह बढ़ा, अरिहंत रूप निमित्त कारण के साथ एकत्व रमण परिणाम होने से आज मोक्ष सिद्धि की साधकता सधी है अर्थात अनुमान हुआ है कि यह जीव भी मोक्ष जाने की योग्यता वाला है।

अर्थः—आज पुण्योदय हुआ, मेरा यह दिन धन्य हुआ, आज मैंने अपने नर जन्म को सफल समझा है। श्री देवचन्द्रजी कहते हैं कि तेवीसवें पार्श्वनाथ प्रभु को मैंने आज वन्दन किया है और भक्ति पूर्वक अपने चित्त को प्रभु गुणों में पिरोया है।

---

१. हर्ष वचन कहे है इसलिये खंभायत तीर्थ का यहां वर्णन किया है।

अथ चतुर्विंश श्री महावीर जिनस्तवन

(ढाल कडखानी देशी)

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी, जगतमां एटलुं सुजश लीजे।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो, दयानिधि दीन पर दया कीजे ॥ता०॥१॥

अर्थ :—तत्व साधन व आज्ञा निर्वाह में असमर्थ हूं इसलिये नाम मात्र का सेवक हूं तो भी हे प्रभु ! मुझे तारो ! गुण रोधक रूप दु:ख से निस्तारो ! जगत में इतना सुयश तो लीजिये (यद्यपि प्रभु यश के कामी नहीं है किन्तु भक्ति वश यह उपचार वचन कहे है) यह दास असंयमादि अवगुणों से भरा हुआ है किन्तु अपना जानकर हे दयानिधि ! इस दीन, अशरण, तत्वज्ञानशून्य, भावदरिद्री पर दया करिये। यद्यपि अरिहन्त देव तो कृपावन्त ही है, वे कभी किसी पर क्रोध नहीं करते पर अर्थी इसी प्रकार बोलते है)।

राग द्वेषे भर्यो मोह वैरी नड्यो, लोकनी रीतमां घणुं ए रातो।
क्रोधवश धम धम्यो शुद्ध गुण नवि रम्यो, भम्यो, भव माहे हुँ विषय मातो ॥२॥

अर्थ :—मै राग द्वेष से भरा हुआ हूं, मुझे मोह वैरी ने दबा रखा है, लोक रीति में अत्यन्त मग्न हूँ, क्रोध के वश मे धमधमाता हूं; जैसे धौंकनी के धोंकने से अग्नि तपती है वैसे तप रहा हूँ। क्षमा, मार्दव आदि आत्म गुणो मे नही रमता, पंचेन्द्रिय के स्वाद मे मग्न होकर मै भवचक्र में भटक रहा हूं।

आदर्युं आचरण लोक उपचार थी, शास्त्र अभ्यास पण कांइ कीधो।
शुद्ध श्रद्धान वलि आत्म अवलंब विनु, तेहवो कार्य तेणे को न साधो ॥ता०॥३॥

अर्थ :—आवश्यकादि आचरण लोकोपचार से अंगीकार किये है अर्थात् भावना धर्म बिना अंगीकार किये है। ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशम से शास्त्र अभ्यास भी किया, शास्त्र का यथार्थ अर्थ भी जाना अर्थात् स्पर्श ज्ञानानुभव विना श्रुताभ्यास किया किन्तु, शुद्ध श्रद्धान, शुद्ध प्रतीति तथा आत्मा के स्वगुण आलंबन विना उपरोक्त आचरण से आत्म साधनका जैसा कार्य सिद्ध होना चाहिये था वैसा कोई कार्य सिद्ध नही हुआ। इसलिये हे परमेश्वर ! आपकी कृपा ही पार उतारेगी, इस सेवक को तारो।

स्वामिदर्शन समो निमित्त लही निर्मलो, जो उपादान ए शुचि न थाशे।
दोष को वस्तुनो अहवा उद्यम तणों, स्वामि सेवा सही निकट लाशे ॥ ता० ॥४॥

अर्थ :—स्वामी दर्शन के समान निर्मल निमित्त पाकर भी जो इस उपादान की मूलपरिणति पवित्र न होगी तो दोष किसका है ? आत्मा का अथवा उसके उद्यमका ? अब क्या करूं ? अन्य कोई उपाय नहीं, स्वामी श्री अरिहंत की सेवा ही निश्चय निकटता लायेगी, अभी तो उद्यम की भी कमी है और आत्मा में भी चपलता है।

स्वामिगुण ओलखी स्वामीने जे भजे, दर्शन शुद्धता तेह पामे।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लास थी, कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे ॥ ता० ॥५॥

अर्थ :—स्वामी के गुणों को पहचान कर जो स्वामी नाथ को भजता है वह सम्यक्दर्शन रूप शुद्ध दृष्टि को पाता है एवं ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य के उल्लास से ज्ञानावरणादि कर्म को जीतकर सम्पूर्ण सिद्धता रूप धाम में जा बसता है। यथार्थ भासन को ज्ञान, स्वरूप रमण को चारित्र, तत्व एकाग्रता को तप तथा आत्म सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं।

जगत वत्सल महावीर जिनवर सुणी, चित्त प्रभु चरणने शरण वास्यो।
तारजो बापजी विरुद निज राखवा, दासनी सेवना रखे जोशो ॥ ता० ॥६॥

अर्थ :—श्री महावीर जिनवर तीनों जगत के हितकारी हैं, यह विरुद सुनकर चित्त को उन्हीं प्रभु के चरणों की शरण में बसाया है; अन्य साधन करने की शक्ति मुझ में नहीं है इसलिये भद्रक भक्ति से कहता हूँ कि हे तात ! हे दीनबंधु ! अपने तारक विरुद को रखने के लिये सेवक को तारियेगा, मेरी सेवा की ओर दृष्टि न दीजियेगा।

वीनति मानजो शक्ति ए आपजो, भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे।
साधी साधक दशा सिद्धता अनुभवी, देवचंद्र विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ता० ॥७॥

अर्थ :—देवचन्द्र जी कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरी यह विनती मानियेगा, मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजियेगा कि मैं वस्तु धर्म को स्याद्वादरीति से शंकादि दूषण रहित शुद्धता पूर्वक जान सकूँ एवं साधक दशा उत्पन्न कर सिद्धता का अनुभव कर सकूँ। देवों में चंद्रमा समान सिद्ध भगवान की निर्मल प्रभुता मुझमें प्रगट होवे।

अथ सामान्य कलशरूप पंचविंशतितम स्तवन

(काल बोल वानी देशी मां)

चौवीशे जिनगुण गाईए, ध्याईये तत्व स्वरूपो जी ।
परमानंद पद पाईए, अक्षय ज्ञान अनूपो जी ॥ चौ० ॥१॥

अर्थ :—चौवीस जिन भगवान के गुण ग्राम करना चाहिये और तत्व स्वरूप का ध्यान करना चाहिये जिससे परमानंद पद प्राप्त हो जहा अद्भुत क्षायिक ज्ञान है ।

चौदहसे बावन भला, गणधर गुण भंडारो जी ।
समतामयी साहु साहुणी, श्रावक श्राविका सारो जी ॥ चौ० ॥२॥

अर्थ :—चौवीस तीर्थंकरो के गुण के भंडार १४५२ गणधर हुये है ।'समता-मय साधु साध्वी और सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र के पात्र सारभूत श्रावक श्राविकायें हुई हैं ।

वर्द्धमान जिनवर तणो, शासन अति सुखकारो जी ।
चौविह संघ बिराजतो, दुःषमकाल आधारो जी ॥ चौ० ॥३॥

अर्थ :—इस समय महावीर स्वामी का शासन है जो अति सुखकारी है, इस दुःषमकाल में भव्य जीवो का आधार भूत चतुर्विध संघ विराजमान है । मिथ्यात्व असंयम को जिससे त्रास आवे वह उपकार श्री वीर प्रभु के शासन तथा आगमों का ही है ।

जिन सेवनथी ज्ञानता, लहे हिताहित बोधो जी ।
अहित त्याग हित आदरे, संयम तपनो शोधोजी ॥चौ०॥४॥

अर्थ:—वीतराग के उपदेश किये हुये सूत्र सुनने से जानकारी बढ़ती है, हित–अहित का बोध होता है फिर अहित को त्याग कर हित के आदरने से सयम एवं तप की शुद्धता होती है ।

अभिनव कर्म अग्रहणता, जीरण कर्म अभावो जी ।
निःकर्मीने अबाधता, अवेदन अनाकुल भावो जी ॥चौ०॥५॥

अर्थ:—संयम और तप की शुद्धता से नये कर्म नही बँधते और पुराने कर्मों का अभाव हो जाता है । उस समय यह जीव सर्व कर्म रहित, बाधा रहित, वेदना रहित एवं व्याकुलता रहित हो जाता है । यह सब प्रभु भक्ति का उपकार है, इसलिये चौवीसों भगवान की स्तवना करना चाहिये, यही सार है ।

भावरोगना विगमथी, अचल अक्षय निराबाधो जी ।
पूर्णानंद दशा लही, विलसे सिद्ध समाधो जी ॥चौ०॥६॥

अर्थः——भाव रोग के जाने से अचल, अक्षय और अव्याबाध पद प्राप्त होता है ऐसी पूर्णानंद दशा पाकर यह जीव सिद्ध आत्मिक समाधि, ज्ञानदर्शन समाधि तथा अव्याबाध सुख समाधि को भोगता है ।

श्री जिनचंद्रनी सेवना, प्रगटे पुण्य प्रधानो जी ।
सुमति सागर अति उल्लसे, साधु रंग प्रभु ध्यानो जी ॥चौ०॥७॥

अर्थः—श्री जिनचंद्र अरिहंत देव की सेवना करते हुये श्रेष्ठ पुण्य प्रगट होता है एवं सुमति रूप सागर अत्यन्त उल्लसित होने से प्रभु के ध्यान में उत्तम रंग लगता है ।

दूसरा अर्थः——खरतर गच्छाधीश्वर श्री जिनचन्द सूरि के शिष्य श्री पुण्य प्रधान उपाध्याय हुये । उनके शिष्य श्री सुमति सागरोपाध्याय हुये तथा उनके शिष्य साधुरंग वाचक हुये (यह स्तुतिकार की परंपरा के बहुश्रुतों के नाम हैं)

सुविहित खरतर गच्छवरु, राजसागर उवझायो जी ।
ज्ञान धर्म पाठक तणों, शिष्य सुजस सुखदायो जी ॥चौ०॥८॥

अर्थः——सुविहित अर्थात पंचांगी प्रमाण जिनकी समाचारी है ऐसे खरतरगच्छ में सर्व शास्त्र निपुण महामहोपाध्याय श्री राजसागर जी हुये जिन्होंने मरुस्थल में अनेक जिन चैत्यों की प्रतिष्ठा कराई व आवश्यकोद्धार प्रमुख ग्रन्थों की रचना की । उनके शिष्य ज्ञान धर्म उपाध्याय हुये जो न्यायादि ग्रन्थों के अध्यापक थे, जिन्होंने साठ वर्ष पर्यन्त शाक-सब्जी छोड़ी अर्थात जिव्हा का रस त्याग कर संवेग वृत्ति धारण की उनके शिष्य यशस्वी एवं सुख को देने वाले ऐसे ।

दीपचन्द्र पाठक तणो, शिष्य स्तवे जिनराजो जी ।
देवचंद्र पद सेवतां, पूर्णानंद समाजो जी ॥चौ०॥९॥

अर्थः——श्री दीपचंद जी पाठक हुये जिन्होंने श्री शत्रुंजय तीर्थ ऊपर शिवा सोमाजी कृत चौमुख टोंक में अनेक बिम्बों की प्रतिष्ठा करी पांच पांडवों के बिम्ब की, समोसरण चैत्य तथा कुंथुनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा करी । राजनगर में सहस्र फणा पार्श्वप्रभु की प्रतिष्ठा की ।

इनके शिष्य देवचन्द्र गणि ने भक्ति वश चौवीस प्रभु को स्तवना की है क्योंकि अपनी भक्ति परिणति महानंद की हेतु है । देवचन्द्रजी कहते हैं कि सिद्धिपद की सेवना करते हुये पूर्णानंद का समूह प्रगट होता है ।

शुद्धि पत्रक

जीवन चरित्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	४	पदावली	पदरत्नावली
३ फुटनोट नं.	३	पद्यरत्नावली	पदरत्नावली
५	७	अष्ठ	अष्ट
८	३०	भापा	भाषा
१५	२	पट	पट्ट
१६	६	दे० गी०	दे० जी०
१८	८, ६, २१, २६	पैढी	पेढी
१६	२२	मति	भांति
१६	३०	पद्यारें	पधारे
२४	११	पालीताणी	पालीताणा
२४	२३	पटवाया	पिटवाया
२४	३२	छीपावसी	छीनावसी
२५	१२	पडधरी	परधरी
२७	६	सवत्	संवत्
३६	१६	प्राप्त	प्राप्ति
३६	१६	समझया	समझाया
३६	२८	वृहत आवश्यक भाष्य	विशेषावश्यक भाष्य

जिन स्तवन

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	विममय	विषमय
३	६	अनती	अनंती
५	५	कुम्हार	कुम्हार
६	८	समरयो	समर्यो
७	१४	चरित्र	चारित्र
२२	११	सिद्धों मे है	सिद्धो मे भी है
२३	८	उपभोग आप	उपभोग भी आप
२३	१७	स्वयर्याय	स्वपर्याय
२३	२६	किञ्चत	किञ्चित
२४	१६	धर्न	धर्म
२५	६	क्रमोपभावी	क्रमभावी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	१६	अभदेवाद	अभेदवाद
२५	२१	सयर्थक	समर्थक
२५	३०	मिमांसक	मीमांसक
२६	५	चरित्र	चारित्र
२७	२५	चाहिबे	चाहिये
२८	२५	आरोपण	आरोहण
२६	३	विशेप:—	विशेष:——
२६	८	आतग	आतम
२६	२५	चरित्र	चारित्र
३०	३	समभिरूठ	समभिरूढ़
३०	१३	इसलिथे	इसलिये
३०	२६	परिणामिक	पारिणामिक
३०	२८	करता	करता है
३१	१८	निग्रंथ	निर्ग्रन्थ
३१	२१	तुमारी	तुम्हारी
३१	फुटनोट	कल्पभाव्य	कल्पभाष्य
३२	६	भजवान	भगवान
३२	१६	धर्न	धर्म
३२	२१	अद्वेष	अद्वेष
३४	१२	होती	होती है
३४	३०	करने में	होने में
३५	१०	जा सकती	जा सकती है
३६	१३	अरमण	अरमणता
३६	१८	ऐर्थापथिकी	ऐर्यापथिकी
५३	१४	पुद्गलदिक	पुद्गलादिक
५६	१६	प्रतिभा	प्रतिमा
६३	२७	प्रमु	प्रभु
६६	१०	भूल	मूल
७१	७	मेंघ	मेघ
७८	१४	सामध्य	सामर्थ्य
७८	२०	इसलिपे	इसलिये

मुद्रण की गलतीयों को सुधार कर पढ़ना चाहियें ।

विशेष

जब मैंने देव विलास के आधार पर जीवन चरित्र लिखना आरंभ किया तो समें वर्णन की हुई घटनाओं का ऐतिहासिक आधार भी खोजना आवश्यक समझा। त्रुंजय सम्बन्धी प्रतिष्ठाओं का वर्णन श्री जिन विजय जी कृत प्राचीन जैन लेख ंग्रह भाग २ में मिल गया। श्री रत्नसिंहजी रणकुजी आदि का वर्णन गुजराज के तिहास में प्राप्त हो गया। इसलिये देव विलास की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं हा। फर्मे छप जाने पर मैंने यह फर्मे मेरे मित्र श्री अगरचंद जी नाहटा को भेजे। न्होंने कुछ संशोधक किये, वे यथा स्थान कर दिये गये हैं तथा कुछ का स्पष्टीकरण यहां किया जाता है। पृ० २७ के फुट नोट नं० ४ में जो उस समय जिन लाभसूरि का शासन लिखा है वह महान् इतिहासज्ञ श्री मोहनलाल जी दलीचंद जी देसाई के श्रीमद् देवचंद्र जी की जीवनी में उनके वक्तव्य पृ० १३ में है। मैंने उसी आधार से दिया है। श्री नाहटा जी ने लिखा है कि 'श्रीमद् देवचंद्र जी भट्टारक शाखा के नहीं, आचार्य शाखा के थे आचार्य शाखा के जिन चंद्रसूरि जी का शासन सं० १७४६ से १७६५ तक रहा है' संवत् १८११ में आचार्य शाखा के कौन से आचार्य का शासन था यह उन्होंने नहीं लिखा। मेरी जानकारी अनुसार श्री चंद्रसूरि जी के पाट पर विजय सूरि जी आये थे अतः उनका शासन होना चाहिये। इस अनुसार मेरे पृ० १२ के फुट नोट को भी सुधार लेना चाहिये। श्री पादराकरजी ने श्री जिन विजयजी तथा उत्तम विजयजी के श्रीमद् के पास विद्याभ्यास का लिखा था; वे महात्मा कौन थे उसकी खोज मैंने श्री तपगच्छ श्रमण वंश वृक्ष में की और पृ० ७ में श्री क्षमा विजय जी के पाटवी श्री जिन विजय जी को तथा जिन विजय जी के पाटवी उत्तम विजय जी को पाया तब इस ही अनुसार मैंने लिखा है। बात यह है कि विदेशियों के आक्रमण से भारत की स्थिति अत्यन्त अशान्त रही है ऐसे समय साध्वाचार में शिथिलता का प्रवेश स्वाभाविक था। समय समय पर क्रियोद्धार भी हुआ है पर क्रियोद्धार कर्ताओं का आचार्य पद मिलना सरल नहीं होता था। खरतरगच्छ में भी ऐसा ही हुआ है। क्षमा कल्याणकजी ने क्रियोद्धार किया, बडे विद्वान् थे पर आचार्य पद नहीं मिला किन्तु वर्त्तमान आचार्य श्री आनन्दसागर जी की परंपरा इनही से है।

इतिहास में संशोधन का स्थान सदा खुला रहता है, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से लिखने वालों को अपनी गलती सुधारने में तनिक भी संकोच नहीं होता